

मुक्ति की धारणा और इस्लाम

लेखक

मुहम्मद फारूक ख़ाँ

विषय सूची

1.	दो शब्द	5
2.	मुक्ति की धारणा	6
3.	मीमांसा दर्शन	12
4.	वेदान्त	13
5.	शंकराचार्य	15
6.	रामानुज	15
7.	मध्वाचार्य	15
8.	निम्बार्काचार्य	15
9.	बल्लभाचार्य	15
10.	शून्यवाद	18
11.	न्याय-दर्शन	19
12.	वैशेषिक दर्शन	19
13.	सांख्य-दर्शन	20
14.	योग-दर्शन	21
15.	जैन मत	22
16.	बौद्ध धर्म	24
17.	चार्वाक-दर्शन	25
18.	उपनिषदों में वर्णित मौलिक समस्याएँ	26
19.	पुनरावलोकन	27
20.	पुनर्जन्म की धारणा	36
21.	ईसाई धर्म	39
22.	यहूदी धर्म	41
23.	ज़रतुश्त मत	44
24.	निष्कर्ष	44
25.	इस्लाम	48

दो शब्द

मुक्ति के विषय को प्रत्येक धर्म में महत्व प्राप्त है। किन्तु मुक्ति की वास्तविकता क्या है और वह कैसे प्राप्त की जा सकती है, इस सम्बन्ध में विभिन्न बातें कही गई हैं।

सत्य यह है कि दुनिया में मनुष्य मुक्तावस्था में पैदा होता है। उसका कर्तव्य होता है कि वह इस मुक्तावस्था को हाथ से न जाने दे, बल्कि वह इसे विकसित रूप दे, यहाँ तक कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस मुक्त-दशा की अभिव्यक्ति होने लगे। इसी से मनुष्य के व्यक्तित्व को परिपूर्णता प्राप्त होती है, जो जीवन का परम लक्ष्य भी है। किन्तु यदि मनुष्य अपने जीवन में ऐसी नीति अपनाता है जो उसकी मुक्त एवं स्वतन्त्र आत्मा के अनुकूल नहीं, तो वह उसके लिए घातक सिद्ध होगी और उसका जीवन वास्तव में एक अभिशाप बनकर रह जाएगा।

इस पुस्तक में मुक्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मतों और विचारों का उल्लेख करते हुए इस्लाम के दृष्टिकोण और उसकी शिक्षाओं को प्रस्तुत किया गया है।

मुक्ति के सम्बन्ध में इस्लाम की धारणा हमारी प्रकृति के अत्यन्त अनुकूल है और उसपर किसी प्रकार की आपत्ति भी नहीं की जा सकती। आशा है हमारे पाठक जीवन के मौलिक विषय 'मुक्ति' की उपेक्षा न करके, गम्भीरतापूर्वक इसपर विचार करेंगे। इसके साथ ही हम यह भी आशा करते हैं कि हमारी यह पुस्तक इस सम्बन्ध में उनकी सहायक सिद्ध होगी।

10-10-2012

विनीत

मुहम्मद फारूक खाँ

मुक्ति की धारणा

मुक्ति की धारणा लगभग सभी धर्मों और जातियों में पाई जाती है। यह अलग बात है कि मुक्ति के अभिप्राय और अर्थों में उनमें अन्तर और विभेद पाया जाता है।

मुक्ति की चिन्ता सभी को होती है। नर हो या नारी, सभी मुक्ति की कामना करते हैं। इसका कारण यह है कि वर्तमान जीवन से कोई पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं है। वे वर्तमान जीवन को अपनी इच्छानुसार सुखदायक नहीं पाते। उन्हें अपने जीवन में भाव की अपेक्षा अभाव की मात्रा अधिक दिखाई देती है। यहाँ सुख का दुख पीछा करता नज़र आता है।

और कुछ नहीं तो मृत्यु का भयावह रूप सबको डराता रहता है। मृत्यु की उपेक्षा करनी किसी के लिए भी सम्भव नहीं। मनुष्य स्वभावतः आनन्द के साथ अमरता की भी कामना करता है। जिन लोगों में चिन्तन और विचार की शक्ति अधिक होती है और जो संवेदनशील होते हैं, वे वर्तमान स्थिति और सुख-सुविधा ही को पर्याप्त नहीं समझते, उन्हें जीवन की किसी गहरी अर्थवत्ता की तलाश होती है। वे किसी गहरे अर्थपूर्ण जीवन की कामना करते हैं; जो आनन्द से उन्हें भर सके और वे पूर्णकाम हो सकें; जिसमें न उन्हें किसी अभाव का एहसास हो और न किसी चीज़ की उन्हें आशंका हो।

मानव-जीवन, आत्मा और ईश्वर के विषय में विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों में जो धारणा पाई जाती है, उसका उनकी मुक्ति की धारणा से विशेष सम्बन्ध है।

इस सम्बन्ध में हम सबसे पहले भारतीय धर्मों और दर्शनों का अध्ययन करके यह बताना चाहेंगे कि मुक्ति के सम्बन्ध में वे किस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं और इस विषय में उनसे क्या और किस प्रकार का मार्गदर्शन हमें प्राप्त होता है। भारत में वैदिक धर्म का समय लगभग 1500 ईसा पूर्व से लेकर

400 ईसा पूर्व तक स्वीकार किया जाता है। दूसरे शब्दों में बुद्ध और जैन धर्मों के सामान्य प्रचार एवं प्रसार तक वैदिक धर्म का प्रभुत्व रहा है। लगभग 500 ईसा पूर्व वैदिककाल के समाप्त होने पर पुराणों पर आधारित हिन्दू-मत के विकास-काल को रामायण और महाभारत का युग कहा जाता है। रामायण और महाभारत, हिन्दू धर्म के प्राचीन स्रोत हैं। वेदों से हिन्दू समाज का सम्बन्ध मात्र ऐतिहासिक प्रतीत होता है। डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं कि गौतम बुद्ध के समय देश पर जो धर्म छाया हुआ था वह ईश्वर और लोगों के मध्य लेन-देन का एक सौदा था। एक ओर उपनिषद् का ब्रह्म था जिसे ईश्वरत्व का उच्चतम स्थान प्राप्त था, दूसरी ओर देवी-देवताओं का एक पूरा गरोह था जिसकी हदबन्दी नहीं की जा सकती थी। दुनिया की जितनी चीजों को ईश्वर के सिंहासन पर बिठाया जा सकता था, बेरोक-टोक बिठाते रहे। इसमें सन्देह नहीं कि चिन्तन और विचार-लोक में इन देवी-देवताओं की प्रभुता विनष्ट करके रख दी गई थी, किन्तु व्यावहारिक जीवन में उन्हें छोड़ा नहीं गया। वे निरन्तर ईश्वरत्व के सिंहासन पर जमे रहे।

(इण्डियन फिलॉसफ़ी, पृ: 453)

हम देखते हैं कि पौराणिक धर्म में आज भी कोई सुधार नहीं हो सका है। पहले की स्थिति आज भी पूर्ववत् बनी हुई है।

वेदों के गहन अध्ययन से मालूम होता है कि वेद में एकेश्वरवाद को मान्यता दी गई है। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि एक ही ईश्वर के नाम हैं, जिसका वर्णन विद्वानों ने अनेक प्रकार से किया है।

ऋग्वेद के नारदीय सूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में न सत् था, न असत् था। तब न तो आकाश था और न ही स्वर्ग विद्यमान था जो इससे परे है। किसने उसे ढका था? वह कहाँ था? वह किसकी रक्षा में था? क्या उस समय गहन गम्भीर जल था जिसमें वह पड़ा था? उस समय न मृत्यु

1. इन्द्र मित्रं वरुणमग्निं माहुरंथो दिव्यः स सुपर्णां गरुत्मान्।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वान माहु।। (ऋ. 1/164/46)

थी न अमरता थी, न दिन था और न रात। उस समय बस एक ही था जो वायुरहित होकर भी अपने सामर्थ्य से श्वास ले रहा था। उसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं थी। सबसे पहले काम उत्पन्न हुआ। यही काम संकल्प था।
(डॉ. राधाकृष्णन भारतीय दर्शन, भाग-1, पृ. 84)

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में भी एक सर्वव्यापी ईश्वर की धारणा का वर्णन मिलता है। कहा गया है कि जो कुछ था और जो कुछ होगा वह पुरुष है।

मानव-जीवन का परम लक्ष्य क्या है? इस सम्बन्ध में वेदों में जो धारणा पाई जाती है वह धारणा परलोकवाद की है। अर्थात् मनुष्य के लिए सुनिश्चित दो ही स्थान हैं—स्वर्ग (जन्नत) या नरक (जहन्नम)। यह मनुष्य के अपने चरित्र और कर्म पर निर्भर करता है कि उसे स्वर्ग में स्थान प्राप्त होता है या नरकाग्नि की यातनाएँ ही उसका भाग्य बनती हैं। वस्तुतः स्वर्ग की प्राप्ति ही वास्तविक मोक्ष या मुक्ति है और स्वर्ग से वंचित रह जाना ईश्वर की कृपा एवं अपार अनुकंपा से वंचित हो जाना है; जिससे बढ़कर हम किसी दुर्भाग्य की कल्पना भी नहीं कर सकते। वेदों से ज्ञात होता है कि मृत्यु से मनुष्य की आत्मा नष्ट नहीं होती, वह मृत्यु के पश्चात् भी अपने मौलिक गुणों के साथ शेष रहती है। उदाहरणार्थ अथर्ववेद में है—

“हे अहिंसित मनुष्य! वहाँ (स्वर्ग में) तू नहीं मरेगा नहीं मरेगा।

अतः मत डर। वहाँ नहीं मरते हैं तथा हीन अन्धकार के प्रति भी नहीं जाते हैं।”

(अथर्व. 8/2/24)

मृत्यु के उपरान्त पारलौकिक जीवन से पूर्व जो अन्तराल की अवस्था पाई जाती है उसपर वेद में प्रकाश डाला गया है। इस सम्बन्ध में वेद में पितरलोक की धारणा पाई जाती है। पितरलोक वह लोक है जहाँ मृत्यु के पश्चात् हमारे पूर्वज और अन्य लोग पहुँचे हैं।

अथर्ववेद में है—

“हे अग्ने! तू जीवों की आयु निर्विघ्नता के साथ पार कर दे तथा जो मर चुके हैं वे पितरलोक में चले जावें। उत्तम गार्हपत्य अग्नि

1. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् (ऋग्वेद 10/90/2)

शत्रु को ताप देवे। प्रत्येक उषा-काल इसके लिए कल्याणमय कर देवे।” (12/2/45)

“अन्तरिक्ष के ऊपर के तीसरे खंड में पितर रहते हैं।” (18/2/48)

इस्लामी परिभाषा में पितरलोक को 'बरज़ख' की संज्ञा दी गई है। अरबी में दो वस्तुओं के बीच के परदे या ओट को बरज़ख कहते हैं। उपनिषद् की परिभाषा में इसे सन्ध्या कहा गया है। क्योंकि यह वर्तमान लोक के जीवन को पारलौकिक जीवन से मिलाता है।

उपनिषद् में है—

“इस मानव के लिए वास्तव में दो लोक हैं, एक यह वर्तमान लोक और दूसरा परलोक, तीसरे बीचवाले का नाम सन्ध्या है। वह निद्रा का स्थान है। इस स्थान पर ठहरा हुआ वह इन दोनों स्थानों—लोक और परलोक को देखता है।” (बृहदारण्यक उपनिषद् 4/3/9)

परलोक में प्रवेश पाने से पहले वर्तमान जगत् की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाएगी। इस प्रलय के पश्चात् संसार का नव-निर्माण होगा। मृत्यु-प्राप्त लोग जीवित किए जाएँगे और फिर लोग अपने चरित्र और कर्म के अनुसार स्वर्ग (जन्नत) या नरक (जहन्नम) में प्रवेश करेंगे।

श्रीमद्भागवत महापुराण में है—

“जब जलमग्न पृथ्वी का गुण-गन्ध नष्ट हो जाएगा, तो धरती नष्ट होकर रहेगी। जल के गुण-रस को आग फूँक डालेगी, तब जल भी लीन हो जाएगा। तेज का गुण-रूप वायु में समा जाएगा। तब तेज भी शेष न रहेगा। वायु के स्पर्शादि गुण आकाश में लीन हो जाएँगे, तब वायु भी नष्ट हो जाएगी। फिर आकाश के गुण-शब्द को सूक्ष्म-भूत ग्रास कर लेंगे...तब वह विशुद्ध, निर्लेप, निरंजन ब्रह्म रहेगा। शेष संसार अव्यक्त रूप में परिवर्तित हो जाएगा। (12/4/12-17)

इसी महापुराण के बारहवें स्कन्ध, अध्याय 4, श्लोक 5-12 में प्रलय का भयावह दृश्य प्रस्तुत किया गया है।

प्रलय के पश्चात् जब एक नवीन संसार निर्मित होगा तो मनुष्य का अन्तिम ठिकाना या तो स्वर्ग में होगा या फिर वह नरक में जाने को बाध्य होगा। यह आदमी के अपने-अपने आचरण और कर्म पर निर्भर करता है।

वेदों से परलोक अर्थात् स्वर्ग और नरक की पुष्टि पूर्णरूप से होती है। डॉ. राधाकृष्णन ने यह मत प्रकट किया है कि वेदों में पुनर्जन्म की धारणा नहीं पाई जाती। यह मत कई अन्य हिन्दू विद्वानों और मैक्समूलर का भी है जिसने वेदों पर काम किया है। वेद एक ऐसे अन्तिम दिन की पुष्टि करते हैं, जब लोग अपने-अपने कर्मों का बदला पा सकेंगे।

“वे अन्तिम दिन को भुलाकर विद्या और बुद्धि का तिरस्कार करके हमारी निश्चित की हुई सीमा को पकड़ रहे हैं।” (ऋग्वेद 1/4/3)

“दिन-प्रति-दिन घोड़े के लिए जैसे घास निश्चित की जाती है, धन के रक्षक भी अन्तिम दिन हे अग्नि! वे क्रोध पूर्वक मुझसे पूछे जाएंगे, क्रोध पूर्वक।” (यजुर्वेद 11/75)

परलोक के जीवन को दिव्य-जीवन की संज्ञा दी गई है।

“हे अग्नि! दिव्य-जीवन (वास्तव में) हवन करनेवाले को नहीं, प्रत्येक समय संसार के मित्र का वरण करनेवाले को है।”

(ऋग्वेद 1/58/6)

कठोपनिषद् में कहा गया है कि पितरलोक में आत्मा की स्थिति स्वप्न के सदृश होती है। वर्तमान लोक में स्थिति जागरण की है, किन्तु पूर्ण जागरण की स्थिति परलोक की है। वेद के अनुसार स्वर्ग एक विशेष लोक है, वह केवल आनन्द का आभास मात्र नहीं है। ऋग्वेद में आया है—

“हे इन्द्र! मुझे उस जगह पहुँचा जहाँ मृत्यु नहीं, अमर लोक में जहाँ प्रकाश है और अनन्त प्रकाश बरसता रहता है।”

(ऋग्वेद 9/113/7)

“मुझे उस रुचि और कामनाओं के लोक में अमर बना दे कि ज्योतिर्मय ब्रह्म का अधिक्षेत्र है, जहाँ आहार और पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होती है।”

(ऋग्वेद 9/113/10)

“वह स्वर्गलोक अमृत से व्याप्त है।” (अथर्ववेद 18/4/4)

“उस मोक्ष लोक में अजस्र ज्योति है। हर प्रकार का स्वः अर्थात् प्रकाश और सुख है। उस स्वर्गलोक में अनुकाम है। वहाँ के लोक ज्योतिर्मय हैं। वहाँ काम; निकाम, स्वधा, तृप्ति, आनन्द, मोद और प्रमोद है। वहाँ सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं।”

(ऋग्वेद 9/113/11)

“स्वर्ग में आत्मा ही नहीं मनुष्य को शरीर भी प्राप्त होगा।

“हे पितरो, सशरीर स्वर्ग में आनन्दित हो।” (अथर्ववेद 18/4/64)

वेदों में है कि स्वर्ग में सुन्दर स्त्रियाँ भी मिलेंगी।¹

वेदों से यह भी ज्ञात होता है कि स्वर्ग लोक से वापसी न होगी। यह मुक्ति शाश्वत होगी। स्वर्गगामी हमेशा सुख में रहेंगे।

स्वर्ग के अतिरिक्त नरक की धारणा भी वेदों में पाई जाती है। यह चरित्रहीन लोगों का निवास-स्थान है।²

भागवत पुराण आदि में नरक की यातनाओं का वर्णन सविस्तार किया गया है। सुख सागर में भी विस्तार के साथ इसका वर्णन मिलता है कि किस बुरे कर्म के कारण मनुष्य किस नरक में डाला जाएगा।³

ऋग्वेद में है—

“इन्द्र और सोम! दुष्कर्म करनेवालों को अगाध अन्धकार में विद्ध (आहत) करो, जिससे एक भी वहाँ से न आ सके। वह तुम दोनों का उत्साहपूर्ण बल शत्रु-विजय के लिए समर्थ हो।”

(7/104/3)

स्पष्ट है कि नरकगामी सदैव के लिए यातनाग्रस्त होंगे जिस प्रकार स्वर्गगामी सदैव के लिए स्वर्ग में स्थान पाएँगे।

1. ऋ. 10/107/10

2. अथर्वे. 20/128/2

3. 5/26

वेदों के अध्ययन और स्वतन्त्र चिन्तन-मनन के पश्चात् भारत में कई प्रकार के दर्शनों का आविर्भाव हुआ। फिर कालान्तर में जैन और बुद्ध धर्म की स्थापना हुई। हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि इन दर्शनों, धर्मों और उनसे सम्बन्धित सम्प्रदायों में मुक्ति और उसकी प्राप्ति को अपने यहाँ क्या स्थान दिया गया है और उसे प्राप्त करने के लिए किन उपायों और साधनों को अपनाने की शिक्षा उनके यहाँ पाई जाती है। भारतीय दर्शनों में षड्दर्शन प्रसिद्ध हैं। वे दर्शन ये हैं—मीमांसा, वेदान्त, योग, न्याय, सांख्य और वैशेषिक। अब हम इन दर्शनों का संक्षिप्त परिचय कराते हुए मुक्ति के सम्बन्ध में उनकी धारणाओं का वर्णन करेंगे।

मीमांसा दर्शन

इस दर्शन के संस्थापक जैमिनि (300 वि. पू.) माने जाते हैं। इस दर्शन का मूल ग्रन्थ “जैमिनि-सूत्र” है। इसे मीमांसा-सूत्र भी कहा जाता है। मीमांसा दर्शन का मुख्य उद्देश्य वैदिक विधि-विधानों का अर्थ समझाना और आपस में उनकी संगति बैठाना है। इस दर्शन के अनुसार वेदों ने जिन कर्मकाण्डों की शिक्षा दी है उन्हें व्यवहार में लाना ही धर्म है। मीमांसक वेद वाक्य को प्रत्यक्ष से भी बढ़कर प्रमाण मानते हैं। अतः शब्द-प्रमाण को उनके यहाँ मौलिक महत्व प्राप्त है।

मीमांसा के अनुसार मृत्यु के उपरान्त आत्मा विद्यमान रहती है। स्वर्ग में वह अपने कर्म के फलस्वरूप सुख प्राप्त करती है। उनका कहना यह है कि कोई ऐसी शक्ति अवश्य है जो कर्मों के फल को सुरक्षित रखती है।

जीवन और जगत् सत्य है, इसे स्वप्नमात्र नहीं कहा जा सकता। वे स्वर्ग, नरक, अदृष्ट आदि अनेक तत्वों को मानते हैं जो यद्यपि अतीन्द्रिय होने के कारण अनुभवगम्य नहीं हैं। मीमांसकों की दृष्टि में वर्तमान लोक में किए हुए कर्मों से एक अदृष्ट शक्ति का प्रादुर्भाव होता है जिसे ‘अपूर्व’ कहते हैं। यह फल भोगने का कारण सिद्ध होती है और समय पाकर फलित होती है। लौकिक और वैदिक आदि सभी कर्मों के फल संचित होते हैं।

प्राचीन मीमांसकों के अनुसार स्वर्ग ही वास्तव में जीवन का परम लक्ष्य है। स्वर्ग-प्राप्ति ही सभी कर्मों का अन्तिम उद्देश्य है। लेकिन धीरे-धीरे अन्य भारतीय दर्शनों की तरह मोक्ष अर्थात् सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने को निःश्रेयस अथवा सबसे बड़ा कल्याण मानने लगे। उनके अनुसार यदि सकाम भाव से अर्थात् किसी विषय की इच्छा के अन्तर्गत शुभ या अशुभ कर्म किया जाए तो उसके परिणामस्वरूप संसार में बार-बार जन्म लेना पड़ता है। मनुष्य यदि वासनाओं का दमन करता है और गुनाहों और पाप-कर्म से विरक्त हो कर उन सभी कर्मों को त्याग देता है जो सुख-प्राप्ति के ध्येय से किए जाते हैं तो पुनर्जन्म या भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

उनके अनुसार निष्काम धर्माचरण और आत्म-ज्ञान के प्रभाव से पूर्व-कर्मों के संचित संस्कार भी क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। फिर इस जन्म के पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता और आदमी जन्म-मरण के चक्र से हमेशा के लिए छुटकारा प्राप्त कर लेता है। यही मोक्ष अथवा मुक्ति है। फिर वह आत्मा शरीर, इंद्रिय, मन आदि सभी बन्धनों से मुक्त हो जाती है।

इस अवस्था में आत्मा सुख-दुःख से परे अपने यथार्थ रूप में रहती है। उसमें केवल सत्ता और चैतन्य की शक्ति निहित रहती है। लेकिन पूर्ववर्तीकाल के कुछ लोग मुक्ति को आनन्दानुभूति भी मानने लग गए थे। आश्चर्य होता है कि मीमांसक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। जबकि वेदों से ईश्वर के अस्तित्व की पुष्टि होती है।

ज्ञानकाण्ड के पूर्व कर्मकाण्ड पर विचार करने के कारण इसे पूर्व मीमांसा भी कहा जाता है।

वेदान्त

वैदिक मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद विभिन्न संहिताओं में संकलित किए गए हैं। वेदान्त ब्राह्मण भाग हैं, जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड का विवेचन किया गया है। उपनिषद् वैदिक युग के अन्तिम साहित्य के रूप में हमारे सामने आते हैं। उपनिषदों में दार्शनिक तथ्यों का उल्लेख किया गया है। उपनिषदों का विकास आरण्यक साहित्य से हुआ है। आरण्य या जंगल

में एकान्त जीवन व्यतीत करते हुए लोग जगत् और जीवन के रहस्य को समझने की कोशिश करते रहे हैं। वेदों के विचार का परिपक्व रूप उपनिषदों में देखने को मिलता है। विभिन्न वैदिक शाखाओं में विभिन्न उपनिषदों की रचना हुई। उपनिषदों के विचारों में बड़ी समानता पाई जाती है। किन्तु फिर भी प्रश्नों के समाधान में कुछ भिन्नता भी पाई जाती है।

इस ध्येय से कि सर्वसम्मत उपदेशों को संकलित किया जाए, बादरायण ने ब्रह्मसूत्र की रचना की। इसे उत्तर मीमांसा की संज्ञा भी दी गई है। ब्रह्मसूत्र के सूत्र बहुत ही संक्षिप्त हैं। उनकी व्याख्या की जरूरत महसूस की गई। अतएव उन सूत्रों की व्याख्या अनेक आचार्यों और विद्वानों ने की, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक भाष्यकार अलग-अलग वेदान्त का प्रवर्तक या संस्थापक बन गया। इस प्रकार शंकर, रामानुज, मध्वाचार्य, बल्लभाचार्य, निम्बार्क आदि के नाम पर कई सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ।

जीव और ब्रह्म में क्या सम्बन्ध पाया जाता है। ये दोनों एक ही हैं या दो हैं। मुख्य रूप से इसी प्रश्न को लेकर विभिन्न सम्प्रदाय बने।

उपनिषदों में जिस ब्रह्म को जगत् का आदिकारण, आत्मा का आधार और मुक्तिदाता कहा गया है, उसी की विस्तृत व्याख्या करना वेदान्त का मुख्य उद्देश्य रहा है। मीमांसा यदि वैदिक कर्मकाण्ड की व्याख्या करता है तो वेदान्त वास्तव में उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड की व्याख्या करता है। उपनिषद् वेदों के बाद का भाग है, इसी लिए इसे उत्तरमीमांसा भी कहते हैं।

वैदिक ज्ञान की व्याख्या करना और उसी ज्ञान के आधार पर मुक्ति की व्याख्या करना वेदान्त का मूल उद्देश्य है। ब्रह्म जड़-जगत्, का ही नहीं वरन् हमारी चेतन आत्मा का भी आधार है। वेदान्त दर्शन का मुख्य प्रयोजन यह ज्ञान प्राप्त करना है कि ब्रह्म तथा आत्मा और जड़ जगत् के मध्य क्या सम्बन्ध पाया जाता है। क्योंकि उसके अनुसार इस सम्बन्ध का ज्ञान ही मुक्तिदायक है।

किन्तु ब्रह्म और आत्मा तथा जड़ जगत् के मध्य क्या सम्बन्ध है, इस विषय में वेदान्तियों में मतैक्य नहीं पाया जाता, बल्कि इस विषय में उनके

यहाँ बड़ा मतभेद है। यही कारण है कि वे मुक्ति के अलग-अलग मार्ग बताते हैं। उदाहरणतः—

शंकराचार्य

शंकराचार्य आत्मा और ब्रह्म में तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। उनके अनुसार जीव और ब्रह्म दो नहीं हैं। अतः उनके मत को अद्वैतवाद कहा जाता है। शंकर के अनुसार अद्वैतवाद का ज्ञान ही मोक्ष है।

रामानुज

आचार्य रामानुज का मत यह है कि आत्मा ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म एक ही है। जीव तथा अचेतन प्रकृति ब्रह्म नहीं बल्कि विशेषण रूप से हैं। अनेक विशेषण-विशिष्ट और ब्रह्म को मानने के कारण उनके मत का नाम विशिष्टाद्वैतवाद है।

मध्वाचार्य

मध्वाचार्य के अनुसार ब्रह्म, जीव और जड़ अनादि और अनन्त हैं। जड़ और जीव ब्रह्म (ईश्वर) से भिन्न हैं। जीवात्माएँ भी अनन्त हैं और उनमें भी भेद हैं। जीवात्मा और ईश्वर का सम्बन्ध सेवक और स्वामी का है। उनके इस मत को द्वैतवाद कहा जाता है।

निम्बार्काचार्य

निम्बार्काचार्य के मतानुसार ब्रह्म और जीव किसी दृष्टि से दो हैं और किसी दृष्टि से दो नहीं हैं। अतः उनके इस मत को द्वैताद्वैत की संज्ञा दी गई है।

बल्लभाचार्य

बल्लभाचार्य का मत शुद्ध-अद्वैतवाद कहलाता है। कहा जाता है कि बल्लभाचार्य के इस मत का नाम शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरोध में दिया गया। इनके अनुसार समस्त जगत् यथार्थ है और सूक्ष्म रूप में ब्रह्म है। जीवात्माएँ और जड़-जगत् तात्विक रूप में ब्रह्म ही हैं। इनका कहना है कि

जीव, काल और प्रकृति अथवा माया सब नित्य वस्तुएँ हैं, वे ब्रह्म के ही तत्व से सम्बद्ध हैं और उनकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है। अतः ऐसे व्यक्ति जो माया की शक्ति को जगत् का कारण मानते हैं वे शुद्ध अद्वैतवादी नहीं हैं, क्योंकि वे ब्रह्म के अतिरिक्त भी एक दूसरी सत्ता को स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार देखा कि जड़, जगत्, प्रकृति, ब्रह्म और आत्मा के प्रति आध्यात्मवादी और आचार्यों में मतैक्य नहीं। जहाँ शंकर ब्रह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या कहते हैं वहीं वेदान्त के अन्य आचार्य जगत् को सत्य कहते हैं और शंकर के जगत्-मिथ्यात्व का खंडन करते हैं।

रामानुज के मतानुसार मुक्ति मात्र आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य ज्ञान से प्राप्त नहीं होती; बल्कि इसके लिए ब्रह्म के प्रति भक्ति-भाव और उपासना अनिवार्य है। वेदान्त के अन्य आचार्य भी भाक्तमार्गी हैं।

रामानुज सृष्टि को भ्रम-मात्र नहीं बल्कि सत्य मानते हैं। उपनिषद् में जो विभिन्न तत्वों का निषेध करके एक ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उपनिषद् में विषयों की सत्ता को अस्वीकार किया गया है, बल्कि आशय केवल यह है कि सबमें एक ब्रह्म ही निहित है; सब उसी पर समाश्रित हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ईश्वर को यदि मायावी कहा गया है तो इसका अर्थ यह होता है कि जिस शक्ति के द्वारा ईश्वर ने सृष्टि की रचना की है वह मायावी शक्ति अद्भुत है। जगत् को भ्रममात्र समझना सत्यानुकूल नहीं। मुक्ति की प्राप्ति मात्र तर्क और अध्ययन से नहीं होती, वरन् पूर्ण आत्मसमर्पण एवं प्रपत्ति (अनन्य शक्ति) मोक्ष प्राप्त करने का साधन है। इससे सम्पूर्ण अविद्या और उन कर्मों का नाश हो जाता है जिनके कारण मनुष्य को शरीर धारण करना पड़ता है। जिस किसी आत्मा को परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है, उसे मुक्ति मिल जाती है। वह पुनर्जन्म से छुटकारा पा लेता है और समस्त दुखों से मुक्त हो जाता है।

रामानुज के मतानुसार मुक्ति का अर्थ आत्मा का परमात्मा के साथ एकाकार हो जाना नहीं है। मुक्त आत्मा शुद्ध ज्ञान से मुक्त होती है।

रामानुज का मत वास्तव में यह प्रतीत होता है कि भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखने पर जीव और ईश्वर का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न है। ईश्वर पूर्ण और अनन्त है, जीव अपूर्ण और अणु है। जीव ईश्वर से पृथक है और ईश्वर जीवों का आत्मा-रूप है। इस दृष्टि से दोनों में अभेद या तादात्म्य या अनन्यत्व का सम्बन्ध है। जीव ब्रह्म का अंश है। इस दृष्टि से दोनों में भेदाभेद का सम्बन्ध है।

निम्बार्क और रामानुज के मतों में बड़ी समानता पाई जाती है। दोनों भेद और अभेद को वास्तविक स्वीकार करते हैं। लेकिन निम्बार्क भेद और अभेद दोनों को समान रूप से महत्व देते हैं। जबकि रामानुज के अनुसार अभेद मुख्य और भेद गौण है। इसी लिए निम्बार्क के मत को द्वैताद्वैत कहा जाता है।

रामानुज मनुष्य के शरीर और आत्मा दोनों को सत्य कहते हैं। उनके मतानुसार आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती, उसे वे नित्य मानते हैं। और वह ईश्वर का ही अंश है। वे आत्मा को चैतन्य मानते हैं किन्तु ज्ञान को आत्मा का स्वरूप मानने से इनकार करते हैं। वे ज्ञान को आत्मा का धर्म मानते हैं।

आत्मा का बन्धन कर्म का परिणाम है। आत्मा को कर्म के फलस्वरूप शरीर प्राप्त होता है। आत्मा शरीर को चैतन्ययुक्त कर देती है, जैसे दीपक घर को प्रकाशित कर देता है। भ्रमवश वह शरीर ही को अपना रूप मानने लगती है। इसे ही अहंकार और अविद्या की संज्ञा दी जाती है।

कर्म और ज्ञान से भक्ति का उदय होता है, और इसी से मुक्ति प्राप्त होती है। कर्म से उनका अभिप्राय वेदोक्त कर्मकाण्ड हैं। यह कर्म निष्काम होना चाहिए। इस स्थिति में पूर्व जन्म के अर्जित संस्कार दूर हो जाते हैं।

शंकराचार्य के मतानुसार जगत् माया स्वरूप है। सत्य केवल ब्रह्म या ईश्वर ही है। जगत् की हैसियत माया की है। माया ईश्वर की एक शक्ति है। जिस तरह आग की दाहकता आग से अभिन्न है, उसी तरह माया भी ईश्वर से अभिन्न है। इसी माया के द्वारा ईश्वर विभिन्न सृष्टि की अद्भुत

लीला का प्रदर्शन करता है। अज्ञानी इस लीला को सत्य समझ लेता है जबकि तत्त्वदर्शी केवल ब्रह्म को ही सत्य जानता है। अज्ञान के कारण लोग भ्रम में पड़ जाते हैं और एक ब्रह्म के बदले अनेक विषय देखने लग जाते हैं।

जब शंकर प्रकृति को माया कहते हैं तो इसका आशय यह होता है कि रचनात्मक शक्ति या माया लोगों के लिए संसार की प्रकृति है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म में मौजूद अचित् तत्व में वास्तविक परिवर्तन होता है। शंकर के मतानुसार ब्रह्म में कोई परिवर्तन नहीं होता। किसी द्रव के विकार का आभास विवर्त (असत् या मिथ्या) कहलाता है और वास्तविक विकार को परिणाम कहते हैं। रामानुज का मत एक प्रकार का परिणाम है। क्योंकि उनका मत है कि ब्रह्म का उचित अंश ही संसार के रूप में परिणत होता है। विवर्तवाद और परिणामवाद दोनों इस बात पर सहमत हैं कि कार्य पहले ही से अपने उपादान कारण में मौजूद होता है।

असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। विभिन्न कारण (जैसे कुम्हार या सोनार) की क्रिया से किसी नवीन द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती। होती है तो केवल उस द्रव्य के निहित रूप की अभिव्यक्ति मात्र ही होती है। कार्य में आकार का परिवर्तन और विविधता उपादान की मात्र एक अवस्था है जो उससे अविच्छेद्य है, उसका पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं।

शून्यवाद

इसके प्रवर्तक नागार्जुन हैं जो दूसरी शताब्दी में दक्षिण भारत में पैदा हुए। शून्यवाद से अभिप्रेत यह है कि संसार शून्यमय है किसी भी चीज़ का अस्तित्व नहीं है। स्वप्न के समान ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय सभी असत्य हैं। बाह्य या अभ्यन्तर किसी प्रकार की सत्ता नहीं। इन्द्रियों से दिखाई देनेवाला (Phenomenal) जगत् असत्य है।

पारमार्थिक सत्ता अवश्य है लेकिन वह अवर्णनीय है। कुछ नहीं कह सकते कि वह बाह्य है या मानसिक। लौकिक विचारों के द्वारा अवर्णनीय होने के कारण उसे शून्य की संज्ञा दी गई है। लंकावतार सूत्र में स्पष्टतः कहा गया है कि सत्य निरपेक्ष है। वह अपने अस्तित्व के लिए किसी वस्तु पर निर्भर

नहीं हो सकता। बुद्धि के द्वारा उसके स्वरूप और स्वभाव का पता लगाना सम्भव नहीं। बुद्धि केवल दृश्य जगत् के लिए है जिसे हम इन्द्रिय द्वारा जानते हैं। जिन संस्कारों से इन्द्रिय ज्ञान सम्पन्न होता है, निर्वाण में उनका निरोध हो जाता है। उस स्थिति में जो अनुभव होता है वह सापेक्ष नहीं होता। वही अनुभूति पारमार्थिक है। वह दृश्य वस्तुओं से परे है। वह निरपेक्ष है, नित्य है। वह साधारण व्यावहारिक धर्मों से रहित है।

निर्वाण से पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति होती है। जिन व्यक्तियों को निर्वाण के तथाभूत स्वरूप का ज्ञान हो जाता है उनको तथागत् अर्थात् निर्वाण-प्राप्त के नाम से जाना जाता है।

न्याय-दर्शन

न्याय-दर्शन के प्रवर्तक गौतम थे। इस दर्शन में मुख्य रूप से शुद्ध विचार के नियमों का वर्णन किया जाता है और तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के उपायों पर प्रकाश डाला जाता है। न्याय-दर्शन को तर्क-शास्त्र भी कहा जाता है।

न्याय-दर्शन का मूल उद्देश्य अन्य दर्शनों की तरह मोक्ष प्राप्त करना ही है। अर्थात् जीवन में पाए जानेवाले दुखों को किस प्रकार दूर किया जाए। जीवात्माओं को यथार्थ ज्ञान और मोक्ष प्राप्त हो यह इस दर्शन का लक्ष्य है।

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद हैं। न्याय की तरह वैशेषिक का लक्ष्य भी जीवन का मोक्ष है। दोनों की दृष्टि में दुखों का मूल कारण अज्ञान है। दुखों की पूर्ण निवृत्ति ही का दूसरा नाम मोक्ष है। यथार्थ के द्वारा ही मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है। कुछ बातों में दोनों में अन्तर भी पाया जाता है।

आत्मा नित्य है और वह सर्वव्यापी एवं विभु है। आत्मा ही चैतन्य का आधार है। जीवात्मा का ज्ञान मानस प्रत्यक्ष से होता है। सुखादि विशेष अनुभवों के माध्यम से जीवात्मा के गुणों का आभास होता है। जीवात्मा अनेक हैं जो भिन्न-भिन्न शरीरों से नाता रखती हैं। जीवात्मा को उसकी

बुद्धि, ज्ञान और कर्मों के अनुसार सुख या दुख भोगना पड़ता है। पुण्य का फल यदि सुख है, तो पाप का फल दुख होगा।

वैशेषिक के अनुसार परमात्मा या ईश्वर एक है जिसे दुनिया जगत्-कर्ता के रूप में जानती है। वह स्रष्टा और संहारकर्ता भी है। अखिल जगत् का शासक और अधीश वही है। ईश्वर की इच्छा से संसार की सृष्टि होती है ताकि सभी जीव अपने कर्मों के अनुसार सुख या दुख का भोग कर सकें। जब उसकी इच्छा होती है तो संसार-रूपी जाल को समेट लेता है। यह सृष्टि और लय का सिलसिला अनादि काल से चल रहा है। संसार के लय के पश्चात् आत्मा और उसके धर्माधर्म जन्म संस्कार शेष रहते हैं जिनको लेकर अगली सृष्टि अस्तित्व में आती है। प्रलय में आत्मा का नहीं केवल शरीर का नाश होता है।

सांख्य-दर्शन

इस दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल थे। इसे निरीश्वर सांख्य भी कहा जाता है। महर्षि कपिल ने ईश्वरवाद की स्थापना नहीं की, सांख्य-दर्शन का भी मूल उद्देश्य मोक्ष ही था। मोक्ष के लिए इस दर्शन में तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक समझा गया। आत्मा के विषय में अत्यन्त उच्चकोटि के विचार व्यक्त किए गए हैं।

सांख्य के मतानुसार मूल तत्व केवल दो हैं : प्रकृति और पुरुष। सांख्य के अनुसार विशेष कार्य विशेष कारण में पहले ही से मौजूद रहता है। इसको सत्कार्यवाद कहते हैं। सांख्य-दर्शन में आत्मा या पुरुष को शरीर, मन और बुद्धि से भिन्न स्वीकार किया गया है। आत्मा वह शुद्ध और चैतन्य स्वरूप है जो हमेशा ज्ञाता के रूप में रहती है। आत्मा स्वतः चैतन्य स्वरूप है। सांख्य में आनन्द और चैतन्य में भिन्नता पाई जाती है। ये दोनों दो विभिन्न चीजें हैं। आत्मा कभी ज्ञान का विषय नहीं हो सकती। आत्मा या पुरुष केवल द्रष्टा है जो प्रकृति की परिधि से परे अत्यन्त शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है। इसका ज्ञान निरन्तर बना रहता है। अलबत्ता ज्ञान के विषय बदलते रहते हैं। आत्मा में कोई क्रिया नहीं होती, वह अविकारी है। वह तो स्वयं स्वयंभू, नित्य,

निष्क्रिय और सर्वव्यापी सत्ता है और वह समस्त विषयों से असंपृक्त और राग-द्वेष से रहित है। जितना भी सुख-दुख है इसका सम्बन्ध प्रकृति और उसके विकारों अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि आदि से ही होता है। यह मात्र भ्रम है कि आत्मा को शरीर या इंद्रिय, मन बुद्धि समझ लिया जाए। कुछ लोग ऐसे हैं जो दुखों के चक्र से छुटकारा पाने के लिए वास्तविक प्रयत्न करते हैं।

सांख्य इसे स्वीकार नहीं करता कि एक ही आत्मा सभी जीवों में व्याप्त है जैसा कि अद्वैत वेदान्त का मत है।

योग-दर्शन

इसके दर्शनाकार पतंजलि हैं। सांख्य के सिद्धान्त का अपने व्यावहारिक जीवन में उपयोग ही योग-दर्शन है। सांख्य के प्रत्यक्ष-अनुमान और शब्द-प्रमाण को योग ने अस्वीकार नहीं किया। सांख्य के वर्णित पच्चीस तत्वों को भी स्वीकार करने से इनकार नहीं, किन्तु यह ईश्वरीय सत्ता की उपेक्षा नहीं करता।

सांख्य के मतानुसार विशुद्ध ज्ञान या विवेक ही मुक्ति प्राप्त करने का साधन है, जबकि योग के अनुसार योग-अभ्यास ही विवेक-ज्ञान का साधन है। क्योंकि जब तक हमारा चित्त या अंतःकरण स्थिर न हो हमें धर्म या तथ्य का सम्यक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। हृदय की शुद्धता और मन की शान्ति से ही सत्य को पा सकते हैं।

योग के मतानुसार आत्मा शरीर, मन, इन्द्रिय इत्यादि से भिन्न है। विवेक द्वारा ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। किन्तु यह ज्ञान शारीरिक एवं मानसिक वृत्तियों के दमन के बिना सम्भव नहीं होता। इसके लिए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार पर विजय पाना अनिवार्य है। यह विजय प्राप्त करने के पश्चात् ही मनुष्य यह जान सकता है कि आत्मा या पुरुष का यथार्थ स्वरूप क्या है। वह देश, काल और कारणों के बन्धनों से परे है। आत्मा वास्तव में मुक्त, नित्य और शाश्वत है। वह तो दुख, रोग, मृत्यु आदि सबसे ऊपर है। इसका अनुभव ही आत्मज्ञान है। इसी आत्मज्ञान या विवेक-ज्ञान से मोक्ष या मुक्ति प्राप्त होती है अर्थात् इसी ज्ञान से मनुष्य दुखों से छुटकारा पा सकता है।

चित्त जब किसी वृत्ति में परिणत होता है तब उसपर आत्मा का प्रकाश पड़ता है और आत्मसात हो जाता है और आत्मा को यह भ्रम हो जाता है कि यह उसी की अवस्था है। हालाँकि यह सत्य के विरुद्ध होता है। आत्मा तो सभी विकारों से परे होती है। चित्त में प्रतिबिम्बित होने के कारण उसे यह भ्रम होता है। इसका परिणाम यह होता है कि सांस्कृतिक विषयों से उसे सुख-दुख का अनुभव होने लगता है और उनसे राग-द्वेष का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। आत्मा का यही वह बन्धन है जिससे छुटकारा पाने के लिए शरीर, इन्द्रिय, मन और चित्तवृत्तियों का निरोध करना ज़रूरी होता है। इस निरोध के पश्चात् आत्म-साक्षात्कार होता है। यह साक्षात्कार योग का मुख्य उद्देश्य है और यही योग के मतानुसार मुक्ति का साधन सिद्ध होता है। ईश-प्रविधान ध्यान या चित्त की एकाग्रता के साधनों में से एक साधन है और इसे सर्वोत्कृष्ट साधन कहा जा सकता है।

आगे चलकर लेखकों ने यह विचार व्यक्त किया है कि ईश्वर केवल ध्यान में सहायक ही नहीं होता बल्कि ईश्वर अपनी कृपा से अपने उपासकों के पाप और दोष को भी दूर करता है और उनके मार्ग को भी सुगम बनाता है। चित्त की वृत्तियाँ जब रुक जाती हैं और मनुष्य लीन हो जाता है, यही समाधि है। इसके बाद ही मनुष्य के लिए मोक्ष की प्राप्ति सम्भव होती है और वह दुखों से छुटकारा पा लेता है।

जैन मत

जैन दर्शन के संस्थापक ऋषभदेव माने जाते हैं। किन्तु श्रमण संघ के रूप में संगठित करने और इसे पूर्ण रूपेण प्रचारित करने और प्रसारित करने का श्रेय छठवीं शताब्दी के महावीर स्वामी को प्राप्त है। जैन धर्म का उद्देश्य भी मुक्ति प्राप्त करना है। 'जिन' अर्थात् जितेन्द्रिय तीर्थकरों के द्वारा प्रचारित होने के कारण इसे जैन-दर्शन कहा जाता है।

जैन मत के अनुसार जीव और अजीव अस्तिकाय के दो प्रकार हैं। फिर जीव या आत्मा के दो प्रकार हैं : मुक्त और बद्ध। जिन लोगों ने मोक्ष प्राप्त कर लिया वे मुक्त जीव हैं। वे कर्म-बन्धन से मुक्त रहते हैं। ये वे लोग हैं

जिन्होंने कर्मों पर विजय प्राप्त कर ली और सिद्ध पूर्ण ज्ञानवान हो गए। बद्ध-जीव वे कहलाते हैं जो अभी तक बन्धन में पड़े हुए हैं।

बद्ध-जीव के भी चार प्रकार माने गए हैं—नारकीय, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। नरक में निवास करनेवाला जीव नारकी और स्वर्ग में निवास करनेवाला जीव देव कहलाता है। पशु, पक्षी आदि तिर्यञ्च हैं और हम सभी मनुष्य हैं।

जैन मत के अनुसार जीव नित्य हैं किन्तु उनकी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। जीव या आत्मा शरीर से भिन्न है। आत्मानुभूति से उनका अनुभव होता है।

जीव और पुद्गल (जड़-द्रव्य) का संयोग ही बन्धन है। अतः जीव या आत्मा का पुद्गल से वियोग होना ही वास्तव में मोक्ष है; अर्थात् पुद्गल से वियोग मुक्ति के लिए ज़रूरी है और यह तभी हो सकता है जब नए पुद्गल का आस्रव समाप्त हो जाए और जो पहले से जीव में प्रविष्ट हो वह जीर्ण हो जाए। पुद्गल के आस्रव के निरुद्ध को सँवर कहते हैं और दूसरे को निर्जरा। मोक्ष प्राप्त होने पर दर्शन, ज्ञान और चरित्र की पूर्णता होने पर मुक्ति प्राप्त होती है। मोक्ष या मुक्ति ही की दशा में जीव को अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख प्राप्त होता है।

बौद्ध धर्म की तरह जैन धर्म भी ईश्वर में विश्वास नहीं रखता। वे कर्मवाद में विश्वास रखते हैं। जैन धर्म में मुक्त आत्मा को 'जिन' और 'वीर' कहा जाता है।

जैन धर्म के अनुसार मुक्त होने और बन्धन तोड़ने का उपाय यह है कि जीव का पुद्गल (जड़-द्रव्य) से सम्बन्ध-विच्छेद हो और नये पुद्गल अपनी ओर आकृष्ट न करें। इसके लिए सम्यक् (सत्यानुकूल) ज्ञान, सम्यक् दर्शन, और सम्यक् चरित्र अनिवार्य है। और सम्यक् चरित्र के लिए पाँच महाव्रतों का पालन आवश्यक है। पाँच महाव्रत ये हैं : अहिंसा, सत्य, अस्तेय (दूसरे का धन हरण न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (सांसारिक चीजों से सच्चा वैराग्य)।

जैन धर्म की दो प्रमुख शाखाएँ हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बर का उद्देश्य है सभी प्रकार के संग्रह का त्याग करना। अतः ये वस्त्र का भी प्रित्याग कर देते हैं। यही कारण है कि इस मत के सिद्ध पुरुष निर्वस्त्र रहते हैं। क्योंकि स्त्रियाँ वस्त्र का पूर्णतः त्याग नहीं कर सकतीं, इसलिए इस शाखा की आस्था है कि स्त्रियों को मोक्ष नहीं मिल सकती। श्वेताम्बर शाखा के अनुयायीगण निर्वस्त्र रहने को विशेष महत्व नहीं देते।

बौद्ध धर्म

इस धर्म के प्रवर्तक बुद्ध थे। महात्मा बुद्ध के उपदेशों का ज्ञान त्रिपिटकों से ही होता है। त्रिपिटकों की संख्या तीन है। विनय-पिटक, सुत्त-पिटक और अभिधम्म-पिटक। अभिधम्म पिटक महात्मा बुद्ध के दार्शनिक विचारों का संग्रह है। सुत्त-पिटक में महात्मा बुद्ध के उपदेशों और वार्तालाप को जमा किया गया है। विनय-पिटक में बुद्धसंघ के नियमों आदि का उल्लेख किया गया है।

बुद्ध का उद्देश्य जीवन के अप्रत्यक्ष दार्शनिक तत्वों पर विचार करना नहीं, बल्कि यह दिखाना अभीष्ट रहा कि जीव जिन दुखों और कष्टों में ग्रस्त है उन दुखों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है।

बौद्ध धर्म के अनुसार वर्तमान जीवन का कारण हमारा अतीत जीवन है और भावी जीवन का कारण हमारा वर्तमान जीवन होगा। वर्तमान का प्रभाव भविष्य पर पड़ता है। अतः तीनों (अतीत, वर्तमान और भविष्य) की एक शृंखला है, जो दुखों से ओत-प्रोत है। दुखों का निरोध हो, दुखों का अन्त हो जाए यही निर्वाण है।

निर्वाण की प्राप्ति इस जीवन में भी सम्भव है। मनुष्य राग-द्वेषों पर विजय पाकर शुद्ध आचरण या शील के साथ निरन्तर आर्य-सत्त्यों का ध्यान करे और समाधि के द्वारा प्रज्ञा प्राप्त करने में सफल हो जाए तो फिर उसमें विषयों की तृष्णा नहीं रहती। वह राग-द्वेष और लोभ-मोह से छुटकारा पा लेता है। उसके लिए काम, रूप या अरूप में कोई आकर्षण नहीं रहता। वह हमेशा के लिए मुक्त हो जाता है। ऐसे मोक्ष-प्राप्त व्यक्ति को अर्हत कहा

जाता है। मोक्ष ही निर्वाण है और यह राग-द्वेष और उससे उत्पन्न होनेवाले दुखों के नाश की अवस्था मात्र है।

यहाँ यह ध्यान रहे कि अखंड समाधि के द्वारा जब स्थायी रूप से प्रज्ञा उपलब्ध हो जाए तो फिर निरन्तर समाधि की स्थिति में रहने की आवश्यकता शेष नहीं रहती और न उसे इसकी आवश्यकता होती है कि मनुष्य जीवन के कार्य से विरत और अलग रहे।

बुद्ध के अनुसार कर्म दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के कर्म वे हैं जो राग-द्वेष और मोह के द्वारा किए जाते हैं। दूसरे प्रकार के कर्म वे हैं जो राग-द्वेष और मोह के अभाव में सम्पन्न होते हैं। ये कर्म अनासक्ति भाव से और संसार को अनित्य समझकर किए जाते हैं, जिससे पुनर्जन्म की सम्भावना नहीं रहती।

लेकिन जो कर्म राग-द्वेष और मोह-माया के अन्तर्गत किए जाते हैं वे कर्म विषयानुरक्ति को बढ़ाते हैं और फिर ऐसे संस्कार पैदा करते हैं जिनके कारण मनुष्य को पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है और आदमी पुनर्जन्म से छुटकारा नहीं पाता और इसके फलस्वरूप उसके दुखों का अन्त नहीं हो पाता।

बुद्ध स्वतन्त्र आत्मा को स्वीकार नहीं करते। हमारी वर्तमान मानसिक अवस्था का कारण आत्मा नहीं बल्कि पूर्ववर्ती मानसिकता है। एक ज्योति से दूसरी ज्योति प्रकाशित होती है लेकिन दोनों ज्योतियाँ एक नहीं हैं। दोनों का सम्बन्ध कारण-कार्य का होता है। वर्तमान जीवन की अन्तिम अवस्था से भावी जीवन के प्रथम अवस्था की उत्पत्ति होती है, किन्तु दोनों दो पृथक जीवन होते हैं। इस तरह पुनर्जन्म सर्वथा सत्य सम्भव होता है।

चार्वाक-दर्शन

भारतीय दर्शन में चार्वाक-दर्शन एक प्राचीन दर्शन है। यह अत्यन्त जड़वादी दर्शन है। यह प्रत्यक्षीकरण को ही ज्ञान का एक मात्र साधन स्वीकार करता है। ईश्वर का ज्ञान प्रत्यक्षीकरण से नहीं होता, इसलिए यह दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को मानने से इनकार करता है। संसार की सृष्टि के लिए

जड़-तत्वों का सम्मिश्रण पर्याप्त है, जो स्वतः अपने-आप हो जाता है। किसी चीज़ के निर्माण के उपादान (साधन सामग्री) कारण के साथ निमित्त (उद्देश्य, लक्ष्य आदि) कारण की कोई आवश्यकता नहीं होती।

चार्वाक का लक्ष्य भौतिक सुख है। आचार-व्यवहार के अतिरिक्त किसी धार्मिक या पारलौकिक लक्ष्य को स्वीकार नहीं करते। लौकिक व्यवहार भी भौतिक सुख के लिए ही है। इस प्रकार यह नितान्त जड़वादी दर्शन है।

अभी जल्द ही तत्त्वो पल्लव सिंह नामक एक प्राचीन पाँडुलिपि प्राप्त हुई है। इसके प्रणेता जयराशि परले दर्जे के चार्वाक थे। इनका समय सम्भवतः आठवीं शताब्दी ईसवी है। उन्हें तो भौतिक तत्वों की सत्ता भी स्वीकार नहीं थी। उन्होंने सामान्य चार्वाक संशयवाद को और पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया।

उपनिषदों में वर्णित मौलिक समस्याएँ

उपनिषदों में आत्मा, ब्रह्म और जगत् के विषय में विचार मिलते हैं। किन्तु ऋषिगण किस प्रणाली से तथ्यों तक पहुँच सके हैं और इस सम्बन्ध में उनके प्रमाण और उनकी युक्तियाँ क्या हैं, इसका कहीं उल्लेख नहीं किया गया है।

उपनिषदों के रचनाकार यह दृढ़ विश्वास रखते थे कि एक ही सर्वव्यापी सत्ता है, जिसने सभी चीज़ों को पैदा किया है, जिसमें सभी चीज़ें स्थित हैं, जिसमें सभी चीज़ें विलीन हो जाती हैं। उसके जान लेने से अमरत्व प्राप्त हो जाता है। सगुण ईश्वर और निर्गुण ब्रह्म एक ही मूल सत्ता के दो रूप हैं। उसी को कभी ब्रह्म, कभी आत्मा, कभी ईश्वर और कभी केवल सत् कहा गया है।

उपनिषद् (बृहदारण्यक) में स्पष्टतः कहा गया है कि आदि में वह मात्र आत्मा था। उसे जान लेने से सभी कुछ ज्ञात हो जाता है। उपनिषद् में विचार सबसे हटकर मनुष्य की आत्मा पर आ जाता है। शरीर, मन, बुद्धि, प्राण और इनसे प्राप्त होनेवाला सुख या आनन्द आदि वास्तव में मात्र बाह्य आवरण हैं। आत्मा शुद्ध चैतन्य है।

आत्म-ज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है? इसके लिए काम, क्रोध आदि वृत्तियों का दमन, मनन, ध्यान आदि उपाय किए जाते हैं। आत्म-ज्ञान अथवा तत्व-ज्ञान द्वारा संस्कारों का लोप हो जाता है। इस दशा में आत्मा का साक्षात्कार हो पाता है। इसके लिए दृढ़ संकल्प की आवश्यकता होती है। उपनिषदों में आत्मा को सत् अर्थात् सब सत्ताओं का मूल कहा गया है और इसके साथ ही उसे चित् अथवा चैतन्यों और आनन्द का मूल स्रोत बताया गया है। संसार के सभी आनन्द वास्तव में उसी के शुद्ध कण और सांसारिक विषय उसी का सीमित अंश हैं।

आत्मा के साक्षात्कार के पश्चात् ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव करते हुए मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

सांसारिक विषयों के पीछे दौड़ते रहने से अपेक्षित आनन्द प्राप्त नहीं होता। वासनाएँ बेड़ियाँ बन जाती हैं जो मनुष्य को सांसारिक बन्धनों में जकड़े रखती हैं, जिसके फलस्वरूप जन्म-मृत्यु अथवा पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है।

कुछ उपनिषदों में जहाँ जीव और ब्रह्म की साम्यावस्था को मोक्ष कहा गया है वहीं कुछ उपनिषदों के अनुसार जीव और ब्रह्म का पूर्ण तादात्म्य ही मोक्ष है। जिस प्रकार नदियाँ अपने नाम और रूप को खत्म करके सागर में विलीन हो जाती हैं उसी तरह पुरुष या जीव भी अपने नाम और रूप के बन्धन से छुटकारा पाकर ब्रह्म में विलीन हो जाता है। मानो मोक्ष के उपरान्त जीव और ब्रह्म का भेद समाप्त हो जाता है। अधिकतर उपनिषदों में जीव और ब्रह्म के पूर्ण तादात्म्य की आनन्दमयी अवस्था को मोक्ष कहा गया है, और इसी को जीवन का चरम लक्ष्य ठहराया गया है।

पुनरावलोकन

भारतीय दर्शन इसे स्वीकार करते हैं कि मोक्ष से सभी दुःख समाप्त हो जाते हैं। मोक्ष के पश्चात् शारीरिक और मानसिक किसी प्रकार का दुःख शेष नहीं रहता। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन यह भी मानते हैं कि मोक्ष के फलस्वरूप आदमी जन्म-मरण अथवा पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त हो जाता है।

जो भारतीय दर्शन आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं उनका मत है कि शरीर और इन्द्रियों से सम्बन्ध हो जाने के कारण ही आत्मा सांसारिक जन्म-मरण और पुनर्जन्म के चक्र में आबद्ध हो जाती है। मोक्ष के पश्चात् आत्मा का शरीर और इन्द्रियों से कोई सम्बन्ध शेष नहीं रहता। यह विदेह-अवस्था ही वास्तविक मोक्ष है। लेकिन सांख्य और शंकर का अद्वैत वेदान्त विदेह-मुक्ति के अतिरिक्त जीवन-मुक्ति को भी स्वीकार करते हैं। अर्थात् मनुष्य संसार में जीवित रहते हुए भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। यहाँ यह बात भी जान लेने की है कि भारतीय दार्शनिक किसी-न-किसी रूप में अविद्या, अज्ञान और अविवेक को ही जीवन के लिए बन्धन और इसे दुःखों का मूल कारण समझते हैं। अविद्या क्या है? इसकी व्याख्या विभिन्न दर्शनों में विभिन्न प्रकार से की गई है।

चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शन मोक्ष को ही जीवन का लक्ष्य समझते हैं। लेकिन मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में उनके यहाँ मतभेद पाया जाता है। कारण यह है कि स्वयं आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ विभिन्न प्रकार की हैं। प्रत्येक दर्शन आत्मा के सम्बन्ध में जो विचार रखता है वह उसी के अनुसार मोक्ष के स्वरूप का निर्धारण करता है। न्याय और वैशेषिक दर्शन आत्मा को अभौतिक, नित्य और अमर मानते हैं। वे आत्मा को समस्त अनुभवों का मूल आधार, ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता मानते हैं। लेकिन वे आत्मा को चैतन्य-स्वरूप नहीं मानते। उनके अनुसार चेतना आत्मा का स्वाभाविक और अनिवार्य लक्षण नहीं है बल्कि वह केवल उसका आकस्मिक धर्म है जो अपने मन और इन्द्रियों के साथ संयोग के परिणामस्वरूप पैदा होता है। इसी आधार पर न्याय वैशेषिक का मत है कि दुःख का पूर्णतः विनाश ही मोक्ष अथवा अपवर्ग है। मुक्ति से आत्मा में दुःख, सुख, राग-द्वेष, इच्छा, घृणा इत्यादि कोई अनुभव शेष नहीं रहता। उसे आनन्द का भी अनुभव नहीं होता। मोक्ष की अवस्था में आत्मा ज्ञान और चैतन्य से भी शून्य हो जाती है। वे इस मत का खंडन करते हैं कि मोक्ष आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य की आनंदमयी अवस्था है। उनके अनुसार आनन्द भी आत्मा के लिए बन्धन है। उनकी दृष्टि में दुःख, सुख समस्त अनुभवों तथा ज्ञान एवं

चैतन्य रहित अवस्था ही मोक्ष है। इस मोक्ष को प्राप्त करने के लिए शरीर का विनाश ज़रूरी है। ये दोनों दर्शन (न्याय और वैशेषिक) विदेह-मुक्ति को ही स्वीकार करते हैं। किन्तु इसे जीवन का आदर्श नहीं बनाया जा सकता। यही कारण है कि अनेक दार्शनिकों ने इसका खंडन किया है। क्योंकि यह मोक्ष नहीं हुआ। अगर इसे मोक्ष मान लिया जाए तो फिर मनुष्य और लकड़ी और पत्थर आदि निर्जीव वस्तुओं के मध्य कोई अन्तर शेष नहीं रह जाता।

मोक्ष के सम्बन्ध में मीमांसा-दर्शन, जिसके दो भेद हैं—पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा, का मत भी न्याय-वैशेषिक के अनुरूप ही है। इस दर्शन के आरम्भिक काल में तो मोक्ष को मानव-जीवन का चरम लक्ष्य भी नहीं स्वीकार किया जाता था। मीमांसा-दर्शन के प्रणेता जैमिनी ने अपने मीमांसा-सूत्र में मोक्ष का कोई उल्लेख नहीं किया है और न मीमांसा-सूत्र के भाष्यकार शबर स्वामी ने अपने भाष्य में इसका कोई उल्लेख किया है। मीमांसा के प्रारम्भिक आचार्य स्वर्ग-सुख प्राप्ति को ही मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य या ध्येय मानते थे। इसी ध्येय को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने मनुष्य के कर्तव्यों की विवेचना की है। उनके मतानुसार वेदों द्वारा वर्णित कर्मों का विधिवत पालन करना ही मनुष्य का धर्म है। इसी के द्वारा उसे स्वर्ग-सुख प्राप्त हो सकता है।

आगे चलकर इस दर्शन के परवर्ती आचार्यों ने अधिकतर अन्य विचारकों की तरह मोक्ष को मानव-जीवन का लक्ष्य स्वीकार कर लिया।

मीमांसक भी आत्मा को समस्त अनुभवों और मानसिक क्रियाओं का मूल आधार मानते हुए उसे चैतन्य स्वरूप नहीं मानते; इसलिए न्याय-वैशेषिक की तरह मीमांसकों की मोक्ष की परिभाषा निषेधात्मक ही है। उसके अनुसार जन्म-मरण से सम्बद्ध समस्त बन्धनों और दुखों का आत्यान्तिक विनाश ही मोक्ष है। आत्यान्तिक विनाश से अभिप्रेत भूतकालीन कर्मों द्वारा संचित संस्कारों का पूर्ण विनाश है जिसके कारण जीव को संसार में पुनः जन्म लेना पड़ता है। शरीर, भोग-साधन, इन्द्रियों और भोग-विषय सांसारिक पदार्थों इन तीनों के साथ आत्मा का विच्छेद ही मोक्ष है। मोक्ष के उपरान्त दुःख का ही

नहीं, बल्कि आत्मा को किसी आनन्द का भी अनुभव नहीं होता। इस प्रकार मीमांसक की भी मोक्ष-सम्बन्धी परिभाषा निषेधात्मक है।

सांख्य और योग भी मोक्ष को मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य स्वीकार करते हैं। मोक्ष के स्वरूप के विषय में दोनों दर्शनों के विचारों में विशेष अन्तर नहीं पाया जाता। सांख्य द्वैतवादी दर्शन है। कारण यह कि वह पुरुष और प्रकृति इन दोनों को अन्तिम सत्ताएँ स्वीकार करता है। उसके अनुसार ये दोनों सत्ताएँ एक-दूसरे के विपरीत हैं। पुरुष यदि चैतन्य स्वरूप, त्रिगुणातीत और निष्क्रिय है तो प्रकृति जड़, सतत् क्रियाशील और त्रिगुणामयी है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन और जगत् के सभी जीव और पदार्थ प्रकृति में शामिल हैं। वैशेषिक और मीमांसा के विपरीत सांख्य पुरुष या आत्मा को चैतन्य स्वरूप स्वीकार करता है। अपने वास्तविक रूप में आत्मा विशुद्ध चैतन्य तत्व है जो द्रष्टा, भोक्ता और कर्ता नहीं है। लेकिन अविवेक के कारण यह अपने ऊपर प्रकृति के गुणों को आरोपित कर लेती है और अपने को प्रकृति से अभिन्न समझकर द्रष्टा, कर्ता और भोक्ता आदि समझ लेती है। यही आत्मा के बन्धन और दुःखों का मूल कारण है। आत्मा का प्रकृति के साथ इस तादात्म्य का विनाश ही मोक्ष है। यह विनाश तत्व-ज्ञान के द्वारा सम्भव होता है। तत्व-ज्ञान का अर्थ यह है कि पुरुष को यह पहचान हो जाए कि वह प्रकृति से पूर्णतः भिन्न है। वह स्वयं कर्ता, द्रष्टा और भोक्ता नहीं है। वह तो केवल विशुद्ध चैतन्य है। वह निर्लिप्त और त्रिगुणातीत (अकर्ता, अद्रष्टा और अभोक्ता) है। मोक्ष के स्वरूप के सिलसिले में सांख्य और न्याय-वैशेषिक मौलिक रूप से एकमत हैं। दोनों आत्यान्तिक दुःख निवृत्ति को ही मोक्ष कहते हैं। दोनों ही मोक्ष-अवस्था में किसी आनन्द की उपलब्धि को नहीं मानते। लेकिन मुक्तावस्था में पुरुष का चैतन्य स्वरूप बना रहता है, कारण यह कि यही उसका वास्तविक स्वरूप है जो उससे अलग नहीं हो सकता।

सांख्य ने विदेह-मुक्ति के साथ जीवन-मुक्ति को भी स्वीकार किया है। अर्थात् संसार में रहकर भी मनुष्य मुक्त हो सकता। वह बन्धनों से ऊपर उठ जाता है। यहाँ के दुःख-सुख से प्रभावित नहीं होता। लेकिन एक विख्यात

सांख्याचार्य विज्ञानभिक्षु तो केवल विदेह-मुक्ति ही को वास्तविक मुक्ति मानते हैं? उनके मतानुसार शरीर के रहते दुःख-सुख और प्रकृति के गुणों से मुक्त होना असम्भव है।

सांख्य-दर्शन पर यह आलोचना की गई है कि जब पुरुष और प्रकृति एक-दूसरे के अत्यन्त विपरीत हैं तो फिर उनमें संयोग कैसे सम्भव हो सका। फिर सांख्याचार्य यह नहीं बताते कि इस अविवेक या अविद्या का पुरुष में उदय कैसे और क्यों होता है? इसका कोई तर्कसंगत और सन्तोषप्रद उत्तर देना सम्भव नहीं।

सांख्य के मोक्ष-सिद्धान्त पर एक आपत्ति यह भी है कि न्याय-वैशेषिक और मीमांसा की तरह इसकी मोक्ष की धारणा भी निषेधात्मक है कि मुक्तावस्था में आत्मा में न सुख का अनुभव शेष रहता है और न दुःख का। इस स्थिति में उसे चैतन्य स्वरूप कैसे कहेंगे? मोक्ष की धारणा निषेधात्मक होने के कारण न्याय-वैशेषिक और मीमांसा की मोक्ष सम्बन्धी धारणा मानव-जीवन का आदर्श कदापि नहीं हो सकता।

अद्वैत वेदान्त के प्रणेता शंकर हैं। वे मोक्ष को ही मानव-जीवन का अन्तिम और वास्तविक उद्देश्य मानते हैं। उनकी मोक्ष सम्बन्धी धारणा अद्वैतवाद पर निर्भर करती है। उनके मतानुसार निर्गुण और निराकार ब्रह्म ही एकमात्र अन्तिम सत्ता है। यह जगत् और प्राणी और अन्य वस्तुएँ अविद्या के कारण ही ब्रह्म से पृथक् प्रतीत होती हैं। मूल रूप में जीव या आत्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अविद्या के कारण ही मनुष्य अपने को उससे भिन्न समझने की गलती करता है, जिसके फलस्वरूप जन्म-मरण के बन्धन में बँध जाता है। ब्रह्म-ज्ञान के फलस्वरूप अविद्या का नाश हो जाता है और ब्रह्म के साथ जीव का एकाकार हो जाता है। ब्रह्म के साथ जीव का यह तादात्म्य ही मोक्ष है। शंकर के मतानुसार मोक्ष से केवल दुःख और पुनर्जन्म से छुटकारा ही नहीं मिलता बल्कि आत्मा को अखण्ड आनन्द भी प्राप्त होता है। कारण यह कि ब्रह्म सच्चिदानन्द है, उसके साथ साकार हो जाने पर यही नहीं कि आत्मा दुखों से मुक्त हो जाती है बल्कि उसे विशुद्ध आनन्द भी प्राप्त होता है। ब्रह्म के साथ तादात्म्य होने से सत्, चित् और आनन्द ये तीनों गुण मौजूद रहते हैं।

सांख्य की तरह शंकर विदेह-मुक्ति के साथ जीवन-मुक्ति को भी मानते हैं। जीवन-मुक्ति की अवस्था में मनुष्य सांसारिक कर्म करते हुए भी उनमें आसक्त न होने के कारण उनके प्रभाव से मुक्त रहता है। वह कर्म स्वार्थ-सिद्धि के लिए नहीं बल्कि लोक-कल्याण के लिए करता है। किन्तु उनके मतानुसार विदेह-मुक्ति ही मोक्ष की अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था में आत्मा संसार से पूर्णतया मुक्त और अलग होकर ब्रह्म में लय हो जाती है। इसलिए उसमें क्रियाशीलता की गुंजाइश नहीं पाई जाती। न्याय-वैशेषिक और मीमांसा के मुक्ताबले में शंकर की मोक्ष-सम्बन्धी धारणा निषेधात्मक न होकर सकारात्मक प्रतीत होती है।

लेकिन कुछ विद्वानों की दृष्टि में शंकर की धारणा और सिद्धान्त भी निषेधात्मक हैं। कारण यह कि जब मोक्ष के उपरान्त आत्मा ब्रह्म में लय हो जाती है और उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रहता, इस स्थिति में यह कहना निरर्थक है कि मोक्ष के उपरान्त आत्मा विशुद्ध चैतन्य स्वरूप और अखंड आनन्द से परिपूर्ण हो जाती है। ऐसा मोक्ष तो मानव का ध्येय नहीं बन सकता जिसमें उसका अपना अस्तित्व ही शेष न रहे। यह तो एक प्रकार की मृत्यु हुई, और जीवन की अपेक्षा मृत्यु मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य या आदर्श नहीं हो सकता।

विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक और वैष्णव दार्शनिक भी अविद्या को आत्मा के समस्त दुःखों और बन्धनों का कारण बताते हैं और कहते हैं कि अविद्या के नष्ट होने से जन्म-मरण और पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। लेकिन रामानुज का मत शंकर के मत से कुछ भिन्न है। रामानुज के अनुसार मोक्ष प्राप्त करने के उपरान्त आत्मा ईश्वर के गुणों को प्राप्त करके उसके अनुरूप हो जाती है, किन्तु ईश्वर में उसका लय नहीं होता। उसका अस्तित्व स्वतन्त्र रूप से शेष रहता है। वह ईश्वर से भिन्न रहती है। रामानुज विदेह-मुक्ति ही को मोक्ष मानते हैं। वे जीवन-मुक्ति को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि शरीर नष्ट होने पर ही जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। इससे पहले मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। मोक्ष के पश्चात् उसे ईश्वर के सानिध्य का महान आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार रामानुज उन्मुक्ति और मीमांसकों

के विपरीत मोक्ष को जीव की आनन्दमय और चैतन्ययुक्त अवस्था मानते हैं। वे केवल विदेह-मुक्ति को मानते हैं, अर्थात् मोक्ष के लिए मृत्यु को अनिवार्य समझते हैं। वर्तमान जीवन और इस संसार में मोक्ष प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं। यह धारणा वर्तमान जीवन में दुःख से उन्मुक्ति का कोई आश्वासन नहीं देती। अतः इसे जीवन का आदर्श और ध्येय नहीं कहा जा सकता।

चार्वाक, जैन और बौद्ध ये तीनों दर्शन ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते और न वेदों की प्रामाणिकता को मानते हैं।

चार्वाक-दर्शन और आगे बढ़कर न तो आत्मा का कोई अस्तित्व स्वीकार करता है और न ही उसकी अमरता को मानता है और न उसका विश्वास पुनर्जन्म में है।

जैन-दर्शन अभौतिक तथा नित्य-द्रव्य के रूप में आत्मा या जीव की सत्ता और उसकी अमरता में विश्वास रखता है। वह आत्मा को चैतन्य स्वरूप मानता है। इस मत के अनुसार जीव के समस्त बन्धनों और दुःखों का मूल कारण उसके कर्म हैं जिनको वह क्षिति, जल, पावक इत्यादि की तरह पौद्गलिक अथवा भौतिक मानता है। कर्म ही जीव में प्रवेश करके उसके अपने गुणों को आच्छादित कर देते हैं और उसे सांसारिक बन्धनों और दुःखों में डाल देते हैं। आस्रव तत्त्व के द्वारा प्रवेश करके कर्म जब जीव को पूर्ण रूप से ग्रास कर लेता है, तब यह जीव की बन्धावस्था है। आस्रव और बन्ध के फलस्वरूप जीव कर्मों के बन्धन में आबद्ध होकर रह जाता है। इससे मुक्ति हासिल करना ही मोक्ष अथवा 'कैवल्य' है। जिन तत्त्वों के द्वारा जीव कर्मों के प्रभाव और बन्धन से मुक्त होता है, उनको जैन दार्शनिक 'संवर' और 'निर्जरा' कहते हैं। जीव में कर्म प्रवेश का निरोध हो यह 'संवर' है। पहले के मौजूद कर्मों का पूर्णतः विनाश हो उसे निर्जरा की संज्ञा दी गई है। कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति के फलस्वरूप केवल यही नहीं कि जीव दुःखों और बन्धनों से मुक्त हो जाता है, अपितु वह अपने वास्तविक गुणों अर्थात् अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सामर्थ्य और अनन्त सुख और शान्ति को पुनः प्राप्त कर लेता है। इससे ज्ञात हुआ कि यह जैन-दर्शन भी विदेह-मुक्ति ही में

विश्वास करता है। मोक्ष की उनकी यह अवधारणा भी निषेधात्मक है। इसे मानव-जीवन का लक्ष्य कैसे कहा जा सकता है। आत्म-केन्द्रित मुक्त जीव हमारे लिए आदर्श नहीं बन सकते।

जैन-दर्शन की तरह बौद्ध-दर्शन में भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाता, बल्कि बौद्ध मत में तो जैन मत के विपरीत नित्य या शाश्वत द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता में भी विश्वास नहीं किया जाता। बौद्ध-दर्शन के अनुसार आत्मा मानसिक प्रवृत्तियों, भावनाओं और विचारों के संघात के अलावा और कुछ नहीं है।

बौद्ध-दर्शन में मोक्ष को निर्वाण की संज्ञा दी गई है। निर्वाण के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में बड़ा विवाद पाया जाता है। कहा गया है कि स्वयं महात्मा बुद्ध ईश्वर, आत्मा, मोक्ष आदि तत्वमीमांसीय प्रश्नों को उठाने और इनके विषय में वाद-विवाद करने को अनुचित और व्यर्थ बताते थे। वे दुःख की व्यापकता और कठोरता से मुक्ति प्राप्त करने के प्रयास को महत्व देते थे और इसी के लिए उन्होंने चार आर्य सत्यों का प्रतिपादन किया।

बुद्ध ने निर्वाण की स्पष्ट और निश्चित परिभाषा नहीं दी। इसलिए निर्वाण के विभिन्न अर्थ उनके अनुयायियों ने ग्रहण किए। बताया जाता है कि निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है 'बुझ जाना' अर्थात् समाप्त हो जाना। मानो मनुष्य का पूर्ण विनाश ही निर्वाण या मोक्ष है। बौद्ध धर्म का हीनयान सम्प्रदाय निर्वाण के इसी अर्थ का समर्थक है। किन्तु मृत्यु तो मनुष्य का आदर्श या अन्तिम ध्येय नहीं हो सकती। यही कारण है कि अनेक विचारक निर्वाण के इस अर्थ को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार निर्वाण निषेधात्मक नहीं बल्कि सकारात्मक अवस्था है। महात्मा बुद्ध के कितने ही ऐसे वचन मिलते हैं जिनमें कहा गया है कि निर्वाण दुःखों से रहित, पूर्ण आनन्द और शान्ति की अवस्था है। इस स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात् मनुष्य जन्म-मरण के सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। 'धम्मपद' (202-203) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि निर्वाण वास्तव में लोभ, घृणा और भ्रम से मुक्त पूर्णतः शान्ति की अवस्था है। सुत्त पिटक के 'अंगुत्तरनिकाय' में भी निर्वाण के इसी अर्थ का समर्थन किया गया है। इस मत के समर्थकों

के अनुसार निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् किसी व्यक्ति को पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। 'निर' का अर्थ है 'नहीं' और 'वाण' का अर्थ है 'पुनर्जन्मपथ'। अतः निर्वाण का अर्थ होता है 'पुनर्जन्म' का अन्त। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति अखंड आनन्द और पूर्ण शान्ति का अनुभव करता है। यह निर्वाण जीवन-काल में प्राप्त कर सकते हैं। बुद्ध ने अपने जीवन-काल में ही निर्वाण प्राप्त कर लिया था और दुःखों से छुटकारा पा गए थे और उन्होंने पूर्ण आनन्द और अखंड शान्ति की अवस्था को प्राप्त कर लिया था।

बौद्ध दार्शनिकों के मतानुसार निर्वाण की प्राप्ति के लिए बुद्ध के प्रतिपादित चार आर्य-सत्यों के प्रति निष्ठापूर्वक आचरण अनिवार्य है। इन चारों आर्य-सत्यों का सम्बन्ध दुःख के कारण और उसके निरोध से है। उन्होंने दुःख के बारह कारण बताए हैं, जिनमें विशेष कारण अविद्या है। बुद्ध ने दुःख निरोध के जो उपाय बताए हैं उन्हीं को 'अष्टांगमार्ग' कहा जाता है। इन उपायों का सम्बन्ध आदमी के सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दृष्टि, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि आदि से है। उनके विचार में इन नियमों को निष्ठापूर्वक पालन करने से प्रज्ञा का उदय होता है, जिसके फलस्वरूप दुःख पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है और मनुष्य भव-चक्र से छुटकारा पा लेता है।

महायान सम्प्रदाय में मुक्त पुरुष को 'बोधिसत्व' की संज्ञा दी गई है। ये बोधिसत्व बुद्धत्व को प्राप्त होने के कारण सांसारिक बन्धनों और दुःखों से प्रभावित नहीं होते। वे अनासक्ति भाव से लोक कल्याण के लिए कर्म करते हैं। वे अपनी मुक्ति के लिए नहीं बल्कि समस्त प्राणियों की दुःख निवृत्ति के लिए प्रयासरत रहते हैं। उनके कर्म वास्तव में दुःखी जीवों के प्रति अपार करुणा से प्रेरित हुआ करते हैं। यह आदर्श हीनयान द्वारा 'अर्हत' के आदर्श की अपेक्षा अधिक वान्छनीय समझा जाता है। 'अर्हत' भी चार आर्य-सत्यों के अनुरूप आचरण को अहंकार तथा समस्त बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए उपयोगी समझते हैं, किन्तु वे दूसरों के दुःख निवृत्ति और मुक्ति के प्रति उदासीन रहते हैं। उनका मानना है कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं प्रयास करना अनिवार्य है। कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की मुक्ति के लिए प्रयास नहीं कर सकता। बुद्ध ने भी कहा

है : 'आत्म-दीपो भव' अर्थात् अपना दीपक (प्रकाश) स्वयं ही बनो। किन्तु यह आत्म-केन्द्रित विचार आत्म-विस्तार में बाधक है।

इसमें सन्देह नहीं कि महायान का बोधिसत्व सम्बन्धी आदर्श अन्य भारतीय दर्शनों के मोक्ष विषयक सिद्धान्तों के मुक्ताबले में व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के लिए अधिक वांछनीय और व्यावहारिक प्रतीत होता है। लेकिन अनेक विद्वानों ने इस सिद्धान्त को अपूर्ण कहा है। इनकी अविद्या की परिभाषा संतोषप्रद नहीं। इनके यहाँ अविद्या का स्वरूप स्पष्ट नहीं।

इसके अतिरिक्त बौद्ध-दर्शन में निर्वाण सम्बन्धी सिद्धान्त में प्रमुख समस्या यह बताई गई है कि सर्वतः दुःख ही की व्यापकता है। यह एकांगी है। दुनिया में दुःख और पीड़ा ही नहीं वरन् सुख और आनन्द भी तो पाया जाता है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त यह बात समझ में आने की नहीं है कि निर्वाण द्वारा आदमी दुनिया में दुःखों और कष्टों से पूर्णतः मुक्त हो जाता है। कारण यह कि शारीरिक गुणों की अपूर्णता और संसार में विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक आपदाओं के फलस्वरूप वह रोग-ग्रस्त भी हो सकता है और उसे पीड़ा और दुःख का अनुभव भी हो सकता है। जीवन-काल में दुःख से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाना सम्भव नहीं।

बौद्ध दार्शनिक सम्पूर्ण विश्व को केवल सतत प्रवाह मानते हैं। वे किसी नित्य या शाश्वत द्रव्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। सवाल यह है कि क्षणिकवाद और अनात्मवाद की दृष्टि से जब विश्व में कुछ भी स्थायी नहीं है तो निर्वाण के लिए प्रयास कौन करेगा और यह निर्वाण प्राप्त होगा भी तो किसको? यदि विश्व और जगत् में सब-कुछ प्रति क्षण बदलता और परिवर्तित होता रहता है तो किसी व्यक्ति द्वारा निर्वाण प्राप्त करने के लिए साधना की बात का क्या अर्थ रह जाता है?

पुनर्जन्म की धारणा

पुनर्जन्म की परिकल्पना वेदों के विरुद्ध है। जैसा कि वेदों के श्लोक और ऋचाओं से स्पष्ट होता है। वेदों में जो धारणा पाई जाती है वह परलोकवाद की है, जैसा कि हमने आरम्भ में इसका सविस्तार उल्लेख किया है। मनुष्यों के अपने बुरे कर्मों का फल भोगने के लिए ईश्वर ने नरक का

निर्माण किया है। इसके लिए जन्म-मरण के बन्धन का आयोजन नहीं किया गया। अच्छे कर्मों और सच्ची धार्मिकता के परिणामस्वरूप मनुष्य के लिए स्वर्ग है; न कि शरीर रहित होकर या चेतना से रिक्त होकर किसी अवस्था को प्राप्त करना जिसमें पूर्णतः कोई दुःख और सन्ताप नहीं। जैमिनी जैसे आचार्य भी इसी का समर्थन करते हैं।

पुनर्जन्म की धारणा को वैदिक धारणा का विकास भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह विकास नहीं अवनति है। पुनर्जन्म की धारणा वेदसंगत न होने के साथ-साथ तर्कसंगत भी नहीं है।

बौद्ध-दर्शन नित्य और शाश्वत आत्मा को स्वीकार नहीं करता। फिर कर्म करनेवाला कौन है और किसको कर्मों का फल प्राप्त होता है? केवल संस्कारों की अविच्छिन्न श्रृंखला मान लेने से बात नहीं बनती। इन संस्कारों का अधिष्ठान और आधार किसे कहेंगे जो इन्हें संयोजित रखता है?

भारत के अन्य दर्शनों के लिए यह सम्भव नहीं कि वे अपने सिद्धान्तों के अन्तर्गत कर्मवाद या पुनर्जन्म को तर्कसंगत रूप में स्वीकार कर सकें। शरीर और आत्मा को भिन्न मानते हुए कर्म-सिद्धान्त की पुष्टि के लिए शरीर और आत्मा के पारस्परिक सम्बन्ध को मानना पड़ेगा। कारण यह कि इन दोनों में सम्बन्ध के बिना कर्म सम्भव नहीं होता। अब प्रश्न यह उठता है कि आत्मा के साथ शरीर के सम्बन्ध का कारण कर्म को माना जा सकता है जैसा कि कहा जाता है कि आत्मा के लिए यह शरीर का बन्धन कर्म ही है। हम जानते हैं कि आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध यदि न हो तो कर्म सम्भव ही नहीं। कर्म से पहले आवश्यक है कि शरीर और आत्मा का सम्बन्ध हो। यह सम्बन्ध अनिवार्य है। अतः यह मानना पड़ेगा कि कर्म इस सम्बन्ध का कारण नहीं हो सकता। शरीर और आत्मा के इस सम्बन्ध का मूल कारण किसे कहेंगे जिसके फलस्वरूप कर्म सम्भव हो सका है? यह कहना तर्कसंगत नहीं कि आत्मा अपने कर्मों के कारण शरीर प्राप्त करती है और इसके फलस्वरूप जन्म-मरण के सांसारिक चक्र में ग्रस्त हो जाती है। शरीर के बिना आत्मा कर्मों में लिप्त नहीं हो सकती। अतः शरीर को आत्मा के कर्मों का परिणाम घोषित करना सत्य के विरुद्ध है।

डॉ. राधाकृष्णन पुनर्जन्म पर विचार करते हुए कहते हैं कि यदि हम सही मार्ग से भटक जाते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि हम अनन्त काल तक दुःख भोगने को बाध्य हैं। इस (जीवन) के अतिरिक्त और भी जीवन हैं, जिनमें हम अपना विकास करके अनन्त आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।ईसाई धर्म यह मानता है कि मनुष्य के लिए एक बार मृत्यु निर्धारित है और उसके बाद “निर्णय” होता है। किन्तु पुनर्जन्म की धारणा बताती है कि आत्मा के लिए अनन्त जीवन की ओर बढ़ने के अनेक अवसर हैं। स्वर्ग में पुरस्कार या दण्ड पाने का जो मूल वैदिक विश्वास था, वह पुनर्जन्म के साथ मिश्रित हो जाता है।

डॉ. राधाकृष्णन का यह कहना कि वैदिक मूल विश्वास पुनर्जन्म के साथ मिश्रित हो जाता है। इसे सत्य कैसे कहा जा सकता है। परलोकवाद और पुनर्जन्म की धारणा एक-दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। इसलिए मिश्रित होने का कोई प्रश्न ही नहीं। पुनर्जन्म वास्तव में वैदिक धारणा के विपरीत एक अन्य धारणा है जिसका वैदिक धारणा के साथ मेल नहीं हो सकता।

डॉ. साहब की यह बात महत्व रखती है, जो उन्होंने अपनी किताब ‘उपनिषदों का सन्देश’ में लिखी है कि पूर्णता एक मनःस्थिति है जो देश या काल के परिवर्तन के सापेक्ष नहीं है। वह वर्तमान की एक अनुभूति है, भविष्य की कोई सिद्धि नहीं है। काल सम्बन्धी भेद उसपर लागू नहीं होते परन्तु यदि कोई कालवाची शब्द प्रयुक्त ही करते हैं तो वे “अब”, “इस समय” जैसे ही होंगे। मनुष्य स्वर्ग का अधिकारी वर्तमान जीवन ही में हो जाता है और हो सकता है। उपनिषदों में मुक्ति के चार पहलुओं का वर्णन किया गया है। जो इस प्रकार हैं : (1) सामीप्य अर्थात् दिव्य या ईश्वर के साथ घनिष्ठता, (2) ‘सारूप’ या ‘साधर्म्य’ अर्थात् ब्रह्म के साथ स्वरूप की समानता जो ईश्वर के तेज के प्रतिबिम्बित होने से सम्भव होता है। (3) ‘सालोक्य’ अर्थात् दिव्य के साथ एक ही लोक सचेत-सह-अस्तित्व’ (4) ‘सायुज्य’ अर्थात् दिव्य के साथ संयोग जो एकरूपता के सदृश है। डॉ. साहब के अनुसार मुक्ति या मोक्ष जन्म-मरण से मुक्त अवस्था है। जन्म और मृत्यु तो काल ही के प्रतीक हैं। अतः मोक्ष या अनन्त जीवन मृत्यु से मुक्त

है। यह तीनों लोकों से परे चेतना की चतुर्थ स्थिति है। इसी को भगवद्गीता में 'परमं ब्रह्म' अथवा 'ब्रह्म निर्वाण' की संज्ञा दी गई है। उपनिषद् में है कि "अज्ञान ज्ञान से नष्ट होता है, कर्मों से नहीं।" मुक्ति अभिज्ञान का परिणाम है। जब परमात्मा दिख जाता है तो हृदय की गाँठ खुल जाती है। बुद्धि के सन्देह मिट जाते हैं और हमारे कर्मों के प्रभाव नष्ट हो जाते हैं। जैसे अन्धे को दृष्टि प्राप्त हो जाए या कोई रोगी स्वस्थ हो जाए। ये बातें क्रीमती हैं। इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इससे मूल समस्या का समाधान नहीं होता और इससे पुनर्जन्म की सत्यता पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। मोक्ष को मात्र एक तकनीकी (Technical) अथवा यांत्रिक वस्तु समझने की गलती की जाती है। मोक्ष या मुक्ति का वास्तविक सम्बन्ध नैतिकता से है। मनुष्य का अस्तित्व कोई जड़-पदार्थ की तरह नहीं है। उसमें नैतिक चेतना विद्यमान है जो उसे उत्तरदायी और जिम्मेदार बनाती है। बड़े-बड़े गुनाहों को भी ईश्वर क्षमा कर सकता है और उन गुनाहों के बुरे प्रभावों से वह सुरक्षित हो सकता है यदि उसे अपने गुनाहों का एहसास हो जाता है और ईश्वर से इसके लिए क्षमा-याचना करता है। करुणावान ईश्वर उसे अपनी दयालुता के आवरण से ढक सकता है और उसके गुनाह माफ़ हो सकते हैं। ऐसा नहीं है कि उसे अपने कर्मों का फल अनिवार्यतः भोगना ही होगा जैसा कि कर्मवाद के माननेवालों की धारणा है। इस विषय पर आगे चलकर हम विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

ईसाई धर्म

मानव-आत्मा का एक लक्ष्य है, जिसे उसको प्राप्त करना चाहिए। इस लक्ष्य को विभिन्न नामों से अभिहित करते हैं। इसी को मोक्ष या मुक्ति और निर्वाण कहा जाता है। मोक्ष को कैवल्य की संज्ञा भी दी जाती है। ईसाई धर्म में पाप से मुक्ति (Salvation) को परम लक्ष्य स्वीकार किया गया है। ईश्वर ने मनुष्य को अपने अनुरूप बनाया। वह ईश्वर का रूप (Image of God) है। उसे स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति प्रदान की गई है। उसे ऐसा विवेक प्राप्त है कि वह भले-बुरे को पहचान सके। बुराई को त्याग कर भलाई की ओर अग्रसर हो और अपने-आप को ईश्वर के अधीन रखे, उसके आदेशों

का पालन करे। लेकिन यदि वह ईश्वर के आदेशों और उसकी इच्छा की अवहेलना करता है, तो वास्तव में वह उस ईश्वर की छवि को विकृत करता है, जो उसे प्रदान की गई है। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह पाप से मुक्त हो ताकि वह ईश्वर की छवि को पुनः प्राप्त कर सके। आत्मिक जीवन जीना ही मुक्ति है। पॉल का कथन है : “शरीर पर मन लगाना तो मृत्यु है, परन्तु आत्मा पर मन लगाना जीवन है। कितना भी पापी हो यदि वह ईसा की शरण में जाए तो वे शान्ति देंगे, क्षमा करेंगे।”

ईसाई धर्म के अनुसार मुक्ति के लिए मनुष्य ईसा मसीह में विश्वास करे। मसीह ने कहा भी है—

“द्वार मैं हूँ। यदि कोई मेरे द्वार से भीतर प्रवेश करे तो उद्धार पाएगा। जो मुझे देखता है, वह मेरे भेजनेवाले को देखता है। मैं जगत् में ज्योति बनकर आया हूँ ताकि जो कोई मुझपर विश्वास करे वह अन्धकार में न रहे।” (यूहन्ना 10/9, 12/4)

मुक्ति और क्षमा के लिए जरूरी है कि मनुष्य ईश्वर के समक्ष बालक की तरह अत्यन्त सरल बनकर रहे। क्षमा के पात्र वही हैं जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो, जो आत्मिक जीवन जीने की अभिलाषा रखते हों। हज़रत मसीह का कथन है कि यदि तुम बालकों के समान न बन सके तो स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकते।

यह सिद्धान्त कि मनुष्य स्वभावतः या पैदाइशी गुनहगार या पापी है, इसे सत्य नहीं कहा जा सकता। ईसाई धर्म में पाप पर अधिक बल दिया गया है। तथ्य यह है कि जो मनुष्य दुनिया में आता है वह ईश्वरीय ज्योति से मुक्त होता है। वह जन्मजात पापी या गुनहगार नहीं होता। पाप या पुण्य तो वह अपने सांसारिक जीवन में कमाता है। मुक्ति वास्तव में अपने भीतर की ज्योति के क्रमिक विकास का परिणाम है। परन्तु यह सब कुछ ईश्वर की कृपा से ही सम्भव होता है, जो हमें अपने विकास का अवसर जुटाता और आगे बढ़ने में हमारा सहयोगी होता है। हज़रत ईसा मसीह (अलैहि.) इसमें सन्देह नहीं कि लोगों को पापों से बचाने के लिए सचेष्ट रहे और लोगों को

ईश्वर की ओर ले जाने की कोशिश में लगे रहे। लेकिन ईसाइयों की यह धारणा कि ईसा ने अपने बलिदान से हमारे पापों का प्रायश्चित किया है, यह हमारी मुक्ति और नजात के लिए पर्याप्त है। हमें केवल उनपर विश्वास करने की आवश्यकता है, यह तर्कसंगत नहीं हो सकता। क्योंकि इस तरह तो आचरण और चरित्र का कोई विशेष मूल्य नहीं रह जाता।

ईसाई धर्म पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार तो मृत्यु के पश्चात् यह निर्णय होना है कि हम अपने जीवन को सफल बना सके हैं या नहीं। हम ईश्वर की अपार कृपा एवं अनुग्रह के पात्र अपने को सिद्ध कर सके या हम इसमें असफल रहे।

हज़रत मसीह (अलैहि.) ने अपने अनुयायियों को एकेश्वरवाद की शिक्षा दी, लेकिन ईसाई त्रिवाद (Trinity) के चक्र में पड़ गए। ईश्वर के साथ हज़रत मसीह और उनकी माता मरियम को भी प्रभुत्व में सम्मिलित कर लिया। इसके अलावा हज़रत मसीह ने अपने बाद एक पैगम्बर के आने की सूचना भी दी थी, किन्तु ईसाइयों ने मसीह (अलैहि.) की इस सूचना पर थोड़ा भी ध्यान न दिया। हालाँकि आनेवाले पैगम्बर के द्वारा धरती पर ईश्वरीय राज्य की स्थापना भी हुई, जिसकी पूर्व चर्चा हज़रत मसीह अपने उपदेशों में करते रहे।

यहूदी धर्म

पचासवीं शताब्दी ई. में यहूदी दार्शनिक फिलो (Philo) ने सिकन्द्रिया में प्राचीन यूनानी दर्शन से प्रभावित होकर यहूदी दर्शन की आधार-शिला रखी। उसके अनुसार ईश्वर प्रत्येक वस्तु में समाया हुआ है लेकिन कोई वस्तु उसमें नहीं समाती। उसने अन्तरिक्ष को पैदा किया और उन सभी चीज़ों को पैदा किया जो अन्तरिक्ष में पाई जाती हैं। उसकी शक्ति को धरती, जल, वायु और आकाश में देखा जा सकता है। विस्तृत जगत् में कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ वह न हो।

वह हमारे बहुत निकट है। उसकी आँखें वह सब कुछ देख रही हैं जो कुछ हम करते हैं। इसलिए आपूँ, हम अपनी सभी बुराइयों को त्याग दें।

बाइबल में है : ईश्वर ने ये नियम बनी-इसराईल को दिए और कहा कि तुम पवित्र रहना, क्योंकि मैं जो तुम्हारा प्रभु हूँ, पवित्र हूँ।

एक स्थान पर बाइबल में है : ऐ बनी-इसराईल (यहूद) याद रखना कि केवल खुदावन्द (प्रभु) ही तुम्हारा खुदा (ईश्वर) है। अपने ईश्वर को अपने हृदय से प्रेम करो, अपनी आत्मा से प्रेम करो; अपनी पूरी शक्ति से प्रेम करो।

एक जगह आया है कि मेरे क़ानून तुम्हारे बहुत निकट हैं बल्कि तेरे मुँह में और तेरे दिल में हैं, ताकि तू आसानी से उनका पालन करे।

बाइबल में बनी-इसराईल (यहूद) के लिए जिन दस आदेशों (Ten Commandments) का उल्लेख किया गया है, उनको बहुत महत्त्व दिया जाता है। वे संक्षिप्त रूप में इस प्रकार हैं—

1. मैं तेरा प्रभु परमेश्वर हूँ जो तुझे दासत्व के घर अर्थात् मिस्र देश से निकाल लाया।
2. तू मुझे छोड़कर दूसरों को परमेश्वर करके न मानना।
3. तू अपने लिए कोई मूर्ति न बनाना, न उनकी उपासना करना। तू अपने प्रभु ईश्वर का नाम निरर्थक न लेना।
4. सब्त का दिन याद करके पवित्र मानना।
5. अपने पिता और अपनी माता का आदर करना।
6. रक्तपात न करना।
7. व्यभिचार न करना।
8. चोरी न करना।
9. अपने पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही न देना।
10. अपने पड़ोसी के घर का लालच न करना।

(निर्गमन 20 : 1-17)

ईश्वर ने इनका निर्वाचन इसलिए किया था कि ये ईश्वरीय सन्देश को लोगों तक पहुँचाएँ। बाइबल में है : “मैं तुझे ग़ैर क़ौमों के लिए प्रकाश बनाऊँगा, ताकि तू मेरी नजात (मुक्ति) धरती के किनारों तक ले जाए।”

क़ौम (बनी-इसराईल) ने बार-बार ईश्वर को दिए हुए अपने वचनों को भंग किया। हालाँकि ईश्वर ने उन्हें अत्यन्त उच्च पद प्रदान किया था। उन्हें यह सूचना भी दी गई थी कि मूसा (अल्लैहि.) की तरह इसमाईल की सन्तान में एक पैगम्बर पैदा होगा, उसका आदर और उसके मार्गदर्शन को स्वीकार करना सबका कर्तव्य होगा। किन्तु यहूदियों ने इसकी उपेक्षा की। आनेवाले पैगम्बर के आदेशों का पालन वे क्या करते और उसका साथ देते, वे उलटे उसके शत्रु बन गए और मुक्ति-दाता पैगम्बर की राह में रुकावटें ही खड़ी करते रहे।

यहूदी धर्म में ईश्वर की धारणा यह है कि वह समस्त शक्तियों का स्रोत है। जगत् का रचयिता और नियन्ता वही है। वह सर्वशक्तिमान है। यहूदियों के अनुसार ईश्वर के अनुरूप अपने को बनाने का प्रयास मनुष्य का वास्तविक लक्ष्य है। ईश्वर अच्छा, सत्यप्रिय, न्यायप्रिय और दयावान् है। अतः मनुष्य को भी अपने अन्दर ये गुण पैदा करने की कोशिश करनी चाहिए। अपनी रक्षा और पूर्णता के लिए प्रयासरत होना प्रत्येक यहूदी का कर्तव्य है। हमारे नैतिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व के लिए यह कथन अर्थपूर्ण है : “पहले स्वयं को और फिर दूसरों को खूबसूरती-दो।” प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मों का फल मिलकर रहेगा।

मध्यकाल के सबसे बड़े यहूदी दार्शनिक मेमोनाईडज़ ने ‘कमेंट्री ऑन दि मिशनाह’ (Commentary on the Meshnah) में यहूदी धर्म दर्शन को संक्षेप में इस प्रकार 13 चीज़ों में सीमित कर दिया है—

(1) स्रष्टा का अस्तित्व (2) उसका सान्निध्य, (3) उसका अशरीरी होना (4) उसकी शाश्वतता, (5) केवल उसी की उपासना और पूजा करना (6) अन्य नबियों में हज़रत मूसा की वरिष्ठता (7) नबियों के कथनों को सत्य मानना (8) सीना पर्वत पर मूसा (अल्लैहि.) की शरीअत (धार्मिक नियमों और विधान) का उद्घाटन (9) शरीअत की अपरिवर्तनीयता (10) ईश्वर का पूर्ण ज्ञान (11) इस और अगली दुनिया में कर्मों का फल (12) मसीहा का आगमन (13) मुर्दे का पुनः जीवित होकर उठना।

ज़रतुश्त मत

ज़रतुश्त (Zoroaster) का जन्म 660 ईसा पूर्व हुआ था। ज़रतुश्त मत के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में अग्नि एक पवित्र प्रतीक थी। लेकिन ज़रतुश्त ने अग्नि-पूजा की शिक्षा नहीं दी थी, बल्कि वे जगत् के ईश्वर की उपासना पर जोर देते थे, जिसका नाम अहूरा मज़दा (Ahura Mazda) था। ज़रतुश्त का कहना था कि मानवजाति के लिए लाभप्रद और अच्छी समस्त वस्तुएँ अहूरा मज़दा ने पैदा की हैं। बुराई और अनिष्टता अहरमन या शैतान की पैदा की हुई हैं। ये दो अहूरा मज़दा और अहरमन क्रमशः प्रकाश और अन्धकार हैं।

पवित्रता को ज़रतुश्त का वास्तविक उद्देश्य बताया जाता है। पवित्रता से अभिप्रेत शरीर और मन दोनों की पवित्रता है। यह पवित्रता अच्छे विचारों, अच्छी बातों और अच्छे कर्मों से प्राप्त की जा सकती है। ज़रतुश्त का कथन है कि अच्छे विचार रखने, अच्छे कर्म करने और अच्छी बातें करनेवाले स्वर्ग (जन्नत) में प्रवेश करेंगे और शाश्वत जीवन प्राप्त करेंगे। इसके विपरीत बुरे विचार, बुरे कर्म और बुरे शब्द गुनहगार को शाश्वत नरक तक पहुँचाएँगे। मृत्यु के पश्चात् नेक आत्माएँ अहूरा मज़दा के यहाँ निवास करती हैं।

अहूरा का अर्थ होता है अधीश, प्रभु और मज़ का अर्थ है महान और दा का अर्थ ज्ञान होता है। अतएव अहूरा मज़दा का अर्थ सर्वज्ञ प्रभु हुआ।

ज़रतुश्त के अनुसार अहूरा मज़दा मनुष्य को उच्चता प्रदान करता है। मनुष्य का महान लक्ष्य पूर्ण आनन्द प्राप्त करना है। इसके लिए मनुष्य को अपने जीवन को पूर्ण बनाना होगा तब अहूरा मज़दा के साहचर्य का आनन्द मिल सकेगा।

निष्कर्ष

मुक्ति के सम्बन्ध में विभिन्न धर्मों और दार्शनिकों के विचारों के अवलोकन से जहाँ दार्शनिकों के चिन्तन और विभिन्न धर्मों में धार्मिकता का

जो अर्थ लिया गया है उसकी हमें जानकारी हासिल होती है, वहीं बहुत-सी ऐसी समस्याएँ हमारे सामने आती हैं जिनका समुचित और सन्तोषप्रद उत्तर हमें नहीं मिलता। उनमें से कुछ समस्याओं की ओर यथास्थान संकेत भी हमने किए हैं।

हिन्दू धर्म में वेदों का बड़ा आदर पाया जाता है। किन्तु हम देखते हैं कि दार्शनिकों ने बहुत-सी ऐसी बातें भी स्वीकार कर ली हैं जो वेदों के नितान्त विरुद्ध हैं। उदाहरणार्थ, सांख्य-दर्शन में दो तत्वों को मूल तत्व माना गया है। एक प्रकृति और दूसरा पुरुष (आत्मा)। ये ही जगत् की रचना के कारण हैं। सांख्य-दर्शन के अनुसार जगत् का आदि कारण प्रकृति ही है। पुरुष जगत् से सर्वथा परे है। किन्तु पुरुष के सानिध्य से ही जगत् का विकास होता है। जगत् की रचना में सांख्य को ईश्वर या ब्रह्म की आवश्यकता महसूस नहीं होती। जबकि वेदों में है : विश्वकर्मा ने अकेले ही धरती और आकाश को बनाया है। ...हम विश्वकर्मा को अपनी रक्षा के लिए बुलाते हैं। विश्वकर्मा ने सबसे पहले जल को उत्पन्न किया। फिर धरती-आकाश को बनाया। वे हमारे उत्पन्न करनेवाले, पालन करनेवाले हैं। विश्वकर्मा ईश्वर सबसे महान, है।

वेदों में पुनर्जन्म की धारणा नहीं पाई जाती। वेदों से परलोकवाद की धारणा की पुष्टि होती है। अच्छे कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य को परलोक (स्वर्ग) प्राप्त होगा और जिन लोगों से ईश्वर उनके बुरे कर्मों के कारण अप्रसन्न होगा, उनका ठिकाना नरक होगा। स्वर्ग सुख और आनन्द का परम धाम है। वहाँ प्रत्येक आनन्ददायक चीजें उपलब्ध होंगी और नरक में यातनाएँ ही हिस्से में आएँगी। दूसरे शब्दों में वेदों के अनुसार मृत्यु के पश्चात् मनुष्य के भाग्य का अन्तिम निर्णय होगा, न कि वह पुनर्जन्म का कोई चक्र।

पुनर्जन्म की धारणा परलोकवाद के विरुद्ध है। दोनों में कोई ताल-मेल नहीं पाया जाता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पुनर्जन्म की धारणा

1 (ऋग्वेद, मण्डल-10, विश्वकर्मा, सूक्त 81-82)

वैदिक धारणा का विकसित रूप है। यह वैदिक धारणा का विकसित रूप नहीं बल्कि उसका निषेध है। इसे दोनों धारणाओं का मिश्रित रूप भी नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों धारणाएँ एक-दूसरे के विपरीत और एक-दूसरे से भिन्न हैं। इनमें सामञ्जस्य (Adjustment) सम्भव नहीं।

विभिन्न धर्मों और दर्शनों में मोक्ष ही को जीवन का वास्तविक लक्ष्य निर्धारित किया गया है और मोक्ष का अर्थ साधारणतः यह लिया गया है कि मनुष्य दुःख और मुसीबतों से छुटकारा पा ले और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त हो जाए। यह नितान्त निषेधात्मक है; जो मनुष्य के लिए आदर्श नहीं हो सकता। यह उद्देश्य या लक्ष्य अपूर्ण है। कारागार से छुटकारा पाना मनुष्य के लिए पर्याप्त नहीं। उसे तो चाहिए कि कारागार से निकलने के उपरान्त उसे अपना घर प्राप्त हो, जहाँ समस्त सुख-सुविधा की व्यवस्था हो। जहाँ वह स्वतन्त्र रूप से आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करे। लक्ष्य तो वही हो सकता है जो सकारात्मक हो, मात्र निषेधात्मक न हो। दार्शनिकों की दृष्टि जीवन के केवल दुःख और पीड़ा ही पर पड़ी और उसी को उन्होंने अपने चिन्तन का आधार बना लिया, जबकि सांसारिक जीवन में दुःख और पीड़ा से कहीं अधिक सुख और आनन्द है। इस सुख, आनन्द और जीवन में पाए जानेवाले आकर्षक पहलू को अपने चिन्तन और दर्शन का आधार नहीं बनाया। यह उनकी बुनियादी गलती थी। यदि वे अपने चिन्तन का आधार सुख और आनन्द को बनाते तो उनके चिन्तन की दिशा यह होती कि आनन्द का स्रोत क्या है और इस आनन्द को पूर्ण, स्थायी और शाश्वत कैसे किया जा सकता है।

वर्तमान जीवन को दुःख और बन्धन ठहराने का परिणाम यह हुआ कि हृदय से अहो भाव जाता रहा और जीवन पाकर ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के बजाय मनुष्य अपने को दुःखी ही समझता रहा।

दार्शनिकों ने अपने चिन्तन के विषय में मात्र अपनी बुद्धि पर भरोसा किया, जबकि मानव-बुद्धि की अपनी एक सीमा है, उससे आगे वह नहीं जा सकती। जीवन की मौलिक समस्याओं का सम्बन्ध सामयिक और सीमित वस्तुओं से नहीं है कि मनुष्य अपनी बुद्धि से काम चला ले। जीवन का बड़ा

और महत्वपूर्ण भाग वह है जो परोक्ष (Unseen) से सम्बन्ध रखता है। हम क्या हैं? हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है? हमारे जीवन के सम्बन्ध में ईश्वर की योजना (Planning) क्या है? इन प्रश्नों का सन्तोषप्रद उत्तर देने में बुद्धि की असमर्थता स्पष्ट है। इस सिलसिले में हमारा मार्गदर्शन सर्वज्ञ ईश्वर ही कर सकता है। ईश्वरीय मार्गदर्शन से हटकर हम जो कुछ निर्णय करेंगे, चाहे वह कितना ही तर्क-संगत क्यों न प्रतीत होता हो, उसकी हैसियत अटकल और अनुमान ही की होगी, और अटकल और अनुमान कभी सत्य का बदल नहीं हो सकते। बुद्धि और विवेक की उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता; लेकिन बुद्धि किसी ऐसे प्रकाश की अपेक्षा करती है जो विश्वसनीय हो जिसके सहारे वह कोई निर्णय कर सके। इसकी मिसाल आँख की है। आँख ईश्वर का अत्यन्त क्रीमती उपहार है। किन्तु यह आँख अन्धेरे में काम नहीं करती, प्रकाश में ही हमारी आँख चीज़ों को देख पाती है। आँख और प्रकाश दोनों ही हमारी ज़रूरत हैं। इन दोनों में से किसी एक को छोड़ा नहीं जा सकता। प्रकाश हो और आँख न हो तो प्रकाश का उपयोग कौन करेगा?

जीवन की मौलिक अवधारणाओं के निर्धारण के सम्बन्ध में मात्र बुद्धि और तर्क पर भरोसा नहीं किया जा सकता। इसके लिए कोई अलौकिक और ईश्वरीय मार्गदर्शन की अनिवार्यता से इनकार नहीं किया जा सकता। अलबत्ता यदि ईश्वर ने इस विषय में हमारा कोई मार्गदर्शन न किया हो तो इस दशा में हम मात्र बुद्धि और अपने अनुभवों का सहारा लेने पर विवश होंगे, किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। मानव-इतिहास साक्षी है कि ईश्वर ने हमेशा मानव के मार्गदर्शन के लिए अपनी ओर से पैगम्बर या सन्देश-वाहक भेजे हैं। यह अलग बात है कि लोग ईश्वरीय मार्गदर्शन की साधारणतया उपेक्षा ही करते रहे और विभिन्न और परस्पर विरोधी मार्गों में भटकते रहने ही को अपना सौभाग्य समझते रहे। खुद तबाह और बरबाद होकर रहे और अपने अनुयायियों को भी पथभ्रष्ट और तबाह करते रहे।

इस्लाम

अन्त में हम संक्षिप्त रूप में इस्लाम का परिचय कराना चाहेंगे। इस्लाम की विशेषता यह है कि यह एक प्रामाणिक धर्म है। इस्लाम के पैगम्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) ने इसे जिस रूप में पेश किया था, यह उसी रूप में आज भी मौजूद है। इसमें किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं हुआ है। यह अपने विशुद्ध रूप में मानव-लोक में विद्यमान है। इसका मूल ग्रन्थ कुरआन पूर्णतः सुरक्षित आज हमारे हाथों में है। इसमें एक अक्षर का भी परिवर्तन नहीं हुआ है। हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) ने इस किताब को जिस रूप में मानव-जगत् में प्रस्तुत किया था वह उसी रूप में विद्यमान है। इसकी प्रामाणिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। इसके अलावा हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) का जीवन-चरित्र भी प्रामाणिक रूप में सुरक्षित है।

इस्लाम की दूसरी विशेषता यह है कि यह धर्म किसी दार्शनिक या विचारक के मन और मस्तिष्क की उपज या कृति नहीं है, बल्कि यह धर्म ईश्वर की ओर से अवतरित धर्म है। इसका अवतरण उस ईश्वर की ओर से हुआ है, जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है, जो हर प्रकार के दोष और ऐब से मुक्त है। अतः इसकी शिक्षाओं और आदेशों में किसी प्रकार की कमी या पक्षपात और अज्ञान की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसकी शिक्षाओं में जो ज्ञान और तत्वदर्शिता (Wisdom) पाई जाती है वह विस्मयकारी और हृदय-आकर्षक है। इसके अतिरिक्त इसमें जो सौन्दर्य विद्यमान है, वह अक्षुण्ण और आत्मा का परम आहार है।

इस्लाम के अनुसार जगत् और जीवन की रचना एक ईश्वर ने की है और यह रचना निरुद्देश्य नहीं है। ईश्वर ने मनुष्य के लिए हर प्रकार की सामग्री जुटाई है। सब कुछ उसके सुख और सुविधा के लिए है। सूर्य-चन्द्र उसकी सेवा में रत हैं। हवाएँ उसी के लिए चलती हैं। रात-दिन का उलट-फेर उसी के लिए है। मौसमों और ऋतुओं में परिवर्तन उसी के लिए होता है। आकाश से वर्षा उसी के लिए होती है। धरती की नाना प्रकार की पैदावार

उसी के लिए है। पशु और जानवर भी उसी की सेवा के उद्देश्य से पैदा किए गए हैं।

मनुष्य को ईश्वर ने एक विशिष्ट योजना के अन्तर्गत धरती में उतारा है। उद्देश्य यह है कि वह यहाँ पूर्णता प्राप्त कर सके। उसे आत्मिक विकास प्राप्त हो और वह अमर आनन्दमय जीवन का अधिकारी और पात्र हो सके। पूर्णता के लिए उसे जिस दायित्व का निर्वाह करना है उसे स्पष्ट शब्दों में बयान कर दिया गया है। ताकि इस सम्बन्ध में वह किसी भ्रम और धोखे में न रहे और सतर्कता के साथ अपनी ज़िम्मेदारी को अदा कर सके।

वर्तमान लोक में कार्य-कारण के नियम को प्रधानता प्राप्त है। यहाँ जहाँ भले लोगों को भले काम करने का अवसर दिया गया है, वहीं बुरे लोगों और दुष्टों को बुरे कर्म करने के अवसर भी प्राप्त हैं। ज़ालिम और अत्याचारी लोग जब अत्याचार करते हैं तो अच्छे और निर्दोष लोगों को भी क्षति पहुँचती है। इसका किसी पिछले कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। नैतिकता के नियमों का यदि लोग पालन करने लगे तो किसी पर न तो कोई जुल्म और अत्याचार हो, न किसी का अनिष्ट हो।

दुःख में भी वास्तव में मनुष्य की परीक्षा होती है कि वह धैर्य से काम लेता और सत्य पर दृढ़ रहता है या नहीं। सुख, खुशहाली और समृद्धता की दशा में भी आदमी की परीक्षा होती है कि वह ईश्वर का कृतज्ञ होता और दीन-दुःखियों पर दया दर्शाता है या नहीं। ईश्वर देखना चाहता है कि मनुष्य धन और सुख पाकर अहंकार में डूब जाता, असहाय और पीड़ितों के साथ उसका व्यवहार क्रूरता और निर्दयता का होता है या लोगों के दुःख और मुसीबतों से द्रवित होकर वह उनकी सहायता करता और उनके साथ उसका व्यवहार सहानुभूति का होता है या उसे उनकी चिन्ता ही नहीं होती, बस अपने में मस्त रहता है। सुख और दुःख दोनों में मनुष्य की परीक्षा है। यहाँ का दुःख और सुख पिछले किसी जन्म के कर्मों का फल कदापि नहीं।

कुरआन के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वर्तमान जीवन का वास्तविक उद्देश्य है पूर्णता (Excellence and perfection) प्राप्त करना। पूर्ण तो वास्तव

में ईश्वर है। मनुष्य को पूर्णता उसकी अनुकम्पा से ही प्राप्त हो सकती है। उसी ने हमें अस्तित्व प्रदान किया, हमारी पूर्णता का एकमात्र आधार भी वही है। यही पूर्णता मनुष्य की मुक्ति और मोक्ष का कारण सिद्ध होती है।

वास्तविक प्रयास पूर्णता के लिए होना चाहिए। क्योंकि हमारी वास्तविक सफलता इसी पर निर्भर करती है। कुरआन में है—

“सफल हो गया वह जिसने आत्म-विकास प्राप्त किया।”

(कुरआन, 87:14)

एक अन्य स्थान पर कुरआन में कहा गया है—

“सफल हो गया वह जिस किसी ने अपनी आत्मा को विकसित किया और असफलता को प्राप्त हुआ वह व्यक्ति जिसने उस (आत्मा) को दबा दिया (और उसे विकसित न होने दिया)।”

(कुरआन, 91:9-10)

इससे स्पष्टतः ज्ञात होता है कि पूर्णता और व्यक्तित्व का विकास और उसकी उत्कर्षता ही जीवन का सार है। अन्य चीजें इसी के लक्षण हैं या ऐसी चीजें हैं जो पूर्णता और उत्कर्षता को अपेक्षित हैं।

कुरआन में आता है—

“सफल हो गया वह व्यक्ति जिसने अपने को विकसित किया और उत्कर्षता को प्राप्त किया। अपने रब के नाम का स्मरण किया। अतः नमाज़ अदा की (ईश्वर के प्रति अपने स्मरण को बनाए रखा और उसकी ओर उन्मुख हुआ)।” (कुरआन, 87:14-15)

इससे पता चलता है कि चरित्र की पूर्णता एवं उत्कर्षता की अपेक्षा यह है कि मनुष्य ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उसके सानिध्य में रहे।

एक दूसरे स्थान पर कुरआन में कहा गया है—

“जो परोक्ष रूप से अपने रब से डरते हैं और नमाज़ के पाबन्द हो चुके हैं (उन्होंने अपने को पूर्ण कर लिया)। और जो पूर्णता एवं

उत्कर्षता प्राप्त करता है, वह स्वयं अपने लिए पूर्णता और उत्कर्षता प्राप्त करता है।” (कुरआन, 35:18)

कुरआन की यह आयत बताती है कि जो अपने रब से डरता है जबकि रब को वह अपने बाह्य नेत्र से देखता नहीं और वह नमाज़ का पाबन्द है तो यह इस बात का प्रमाण है कि उसने अभीष्ट पूर्णता और उत्कर्षता प्राप्त कर ली है। अर्थात् ईश्वर का भय और नमाज़ की पाबन्दी उत्कर्षता और व्यक्तित्व की पूर्णता का लक्षण है।

व्यक्तित्व की यही उत्कर्षता और पूर्णता है जो मनुष्य को मुक्ति और मोक्ष का पात्र बनाती है और वह स्वर्ग और जन्नत का अधिकारी हो जाता है। कारण यह है कि व्यक्तित्व की पूर्णता ईश्वर की कृपा को अपनी ओर आकृष्ट करती है। फिर जिससे ईश्वर प्रसन्न हो वह उसे सब कुछ प्रदान करेगा, जिसकी उसे कामना होगी। वह अमृतत्व को भी प्राप्त होगा और स्वर्ग और जन्नत भी उसे मिलेगी, जो उसकी आवश्यकता भी है और उसे अभीष्ट भी। उसे ईश्वर का सामीप्य भी प्राप्त होगा और वह ईश्वर के दर्शन भी कर सकेगा। कुरआन स्पष्ट शब्दों में कहता है—

“और जो कोई उसके (अर्थात् ईश्वर के) पास मोमिन होकर आया, जिसने अच्छे कर्म किए होंगे, तो ऐसे लोगों के लिए तो ऊँचे दर्जे हैं। अदन के बाग हैं, जिनके नीचे नहरें बहती होंगी। उनमें वे सदैव रहेंगे। यह बदला है उसका जिसने स्वयं को विकसित किया।” (कुरआन, 20:75-76)

मौलिक महत्व आत्मिक विकास का है। ईश्वर चाहता है कि हम पूर्ण हों। हमारा जीवन दिव्यता लिए हुए हो। दिव्य-जीवन जगत्-सखा (ईश्वर) को धारण करने से प्राप्त होता है। जीवन ईश्वरमय हो, यह है पूर्णता एवं उत्कर्षता। हमारा जीवन और हमारा व्यक्तित्व एक दर्पण बन जाए जो ईश्वर के प्रतिबिम्ब से आलोकित हो। ईश्वर के गुण हमारे धर्म और व्यवहार का मूल आधार हों। वह दयावन्त है तो हम भी दयावान हों और हमारा हृदय करुणा से परिपूर्ण हो। वह क्षमाशील है तो क्षमाशीलता हममें भी पाई जाए।

वह दानशील है तो दानशीलता हमारा भी विशेष गुण हो। वह न्यायप्रिय है तो हम भी न्याय को कभी विस्मृत न करें। उसमें आत्म-सम्मान पाया जाता है, यह गुण हममें भी हो। उसके और हमारे मध्य अनुकूलता पाई जाए। हम उसकी सुन्दरता के उपासक हों।

फिर इस्लाम बताता है कि मुक्ति पुनर्जन्म से नहीं नरक की यातना से बच जाने का नाम है। नरक या दोज़ख में वे लोग डाले जाएँगे जो सरकश और ईश्वरीय योजना के विरुद्ध जीवन व्यतीत करते हैं और कुरआन के विरुद्ध धारणा और विचार रखते हैं। एक ईश्वर को मानते भी हैं, तो अन्य दूसरों की पूजा करते और उन्हें ईश्वर का समकक्ष समझते हैं। यह ऐसा अपराध है जो अक्षम्य है।

कुरआन में है—

“(उस व्यक्ति ने जो ईमान लाया था) कहा कि ऐ मेरी क़ौम के लोगो! यह मेरे साथ क्या मामला है कि मैं तो तुम्हें मुक्ति की ओर बुलाता हूँ और तुम मुझे आग की ओर बुला रहे हो? तुम मुझे बुला रहे हो कि मैं ईश्वर के साथ कुफ़्र करूँ और उसके साथ उसे साझी ठहराऊँ जिसका मुझे कोई ज्ञान नहीं। जबकि मैं तुम्हें बुला रहा हूँ उसकी ओर जो प्रभुत्वशाली, अत्यन्त क्षमाशील है।”

(कुरआन, 40:41-42)

कुरआन में एक अन्य स्थान पर कहा गया है—

“और क्रियामत के दिन तुम उन लोगों को देखोगे जिन्होंने अल्लाह पर झूठ घड़कर थोपा है कि उनके चेहरे स्याह हैं। क्या अहंकारियों का ठिकाना जहन्नम में नहीं है। इसके विपरीत ईश्वर उन लोगों को जिन्होंने उसका डर रखा, उन्हें उनकी अपनी सफलता के साथ मुक्ति प्रदान करेगा। न तो उन्हें कोई अनिष्ट छू सकेगा और न वे शोकाकुल होंगे।”

(कुरआन, 39:60-61)

इस्लाम की शिक्षाएँ हों या उसके द्वारा निर्धारित उपासनाएँ, सब अत्यन्त अर्थपूर्ण हैं जिन्हें समझने की ज़रूरत है। नमाज़ उसके सानिध्य का प्रतीक है। रोज़ा (व्रत) केवल आत्म-नियन्त्रण के लिए ही अनिवार्य नहीं किया गया है बल्कि उससे यह शिक्षा मिलती है कि जीवन खाना-पीना और स्त्री-प्रसंग ही का नाम नहीं है, बल्कि जीवन में कुछ और रहस्य भी छिपे हुए हैं। ज़कात दानशीलता की परिचायक है। दीन-दुःखियों को ग़ैर न समझें, वे अपने ही हैं। उनकी ज़रूरत को अपनी ज़रूरत समझें। जीवन में हमारा प्रयास यह हो कि हमारे हृदय की कोमलता नष्ट न हो। हम उसकी रक्षा करें। हज तो धर्म के चरम बिन्दु को स्पर्श कर लेने का नाम है। यह क्रियागत के दिन ईश्वर के समक्ष समस्त लोगों के एकत्र होने को प्रदर्शित करता है, जब ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति के भाग्य का फैसला करेगा और अपने प्रियजनों को हर प्रकार से सम्मानित करेगा। उन्हें अपने समीप स्थान देगा। वे अपने मन की अभिलाषाएँ पूरी कर सकेंगे।

जिहाद वास्तव में उस प्रयास और संघर्ष का नाम है जो बुराई को मिटाने और सत्य की स्थापना के लिए किया जाए, ताकि धरती में लोग ईश्वरीय शिक्षा के अनुसार रह सकें और इसमें उनके लिए कोई रुकावट न रहे। सबके साथ न्याय हो। किसी पर अत्याचार न हो। शौर्य और वीरता वही है जो मानव-जाति के काम आए।

इस्लाम में जो त्योहार निश्चित किए गए हैं उनका सम्बन्ध भी केवल सामाजिक खुशियों से नहीं है बल्कि वे भी शाश्वत खुशी और अनन्त आनन्द के सूचक हैं।

मनुष्य के दुष्कर्म उसके लिए वास्तव में बन्धन हैं। वह अपने बुरे कर्मों के हाथों बन्धक होता है। सत्कर्म तो वे ही हैं जो शुभ हों, और जो हमारी आत्मा को स्वतन्त्रता प्रदान करें और उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा करते हों। ऐसे कर्म जो हमारी आत्मा के अनुकूल होते हैं वे हमें दमित नहीं कर सकते। वे वास्तव में हमारे नैतिक सौन्दर्य के परिचायक होते हैं। वे हमारे लिए बन्धन नहीं होते और न वे हमें अपना बन्धक बनाते हैं। हमारे कर्म हमारी

धारणा के प्रतीक होते हैं। हमारे कर्मों का उद्देश्य केवल अपना निजी कल्याण नहीं होना चाहिए अर्थात् हम सबको अपना समझें, करुणावान हों और हमें सबके कल्याण की चिन्ता हो।

कुरआन में है—

“प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ उसने कमाया उसके बदले बन्धक है, सिवाय दाएँवालों (सौभाग्यशाली व्यक्तियों) के। वे जन्नतों में होंगे। अपराधियों के विषय में पूछ-ताछ कर रहे होंगे। (वे उनसे कहेंगे) तुम्हें क्या चीज़ भड़कती अग्नि में ले आई? वे कहेंगे : हम नमाज़ अदा करनेवालों में से न थे और न हम मुहताज को खाना खिलाते थे। और व्यर्थ बात और कठ-हुज्जती में पड़े रहनेवालों के साथ हम भी उसी में लगे रहते थे, और हम बदला दिए जाने के दिन (क्रियामत के दिन) को झुठलाते थे।”

(कुरआन, 74:38-46)

इस्लाम में मोक्ष या मुक्ति की धारणा शुष्क नहीं है। बल्कि अत्यन्त रसात्मक और आनन्ददायक है। यहाँ मुक्ति यह है कि मनुष्य सबसे बड़े खतरे (नरक) से सुरक्षित हो और उसे स्वर्ग (जन्नत) में ईश्वर का सामीप्य प्राप्त हो। ईश्वर के सानिध्य में स्वर्ग या जन्नत में उसका निवास शाश्वत होगा। वह कभी वहाँ से निकाला न जाएगा। वह स्थायी रूप से जन्नत का निवासी घोषित कर दिया जाएगा। यह जन्नत वह है जिसमें हर तरह की सुख-सामग्री और आनन्ददायक चीज़ें मौजूद होंगी।

इस्लाम में मुक्ति के लिए जिस चीज़ की आवश्यकता है वह है ईश्वर के प्रति समर्पण और उसके आदेशों का अनुपालन। संन्यास या वैराग्य मानव-प्रकृति के अनुकूल नहीं है। धर्म जीवन को आनन्द प्रदान करता है। वह आनन्द और खुशी को छीनने के लिए कदापि नहीं है।

कुरआन में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—

“कहो : ईश्वर की उस शोभा-सौन्दर्य को जिसे उसने अपने बन्दों के लिए उत्पन्न किया है और आजीविका की पवित्र, अच्छी चीज़ों

को किसने अवैध कर दिया? कह दो : ये सांसारिक जीवन में भी ईमानवालों के लिए हैं, क्रियामत के दिन तो केवल उन्हीं के लिए होंगी। इसी प्रकार हम आयतों (आदेशों) को उन लोगों के लिए सविस्तार बयान करते हैं जो जानना चाहें। कह दो : मेरे रब ने केवल अश्लील कर्मों को अवैध ठहराया है—जो उनमें से प्रकट हो उन्हें भी और जो छिपे हों उन्हें भी—और हक़ मारना, नाहक़ (अकारण) ज्यादती और इस बात को कि तुम ईश्वर का साझीदार ठहराओ जिसके लिए उसने कोई प्रमाण नहीं अवतरित किया, और इस बात को भी कि तुम ईश्वर पर थोपकर ऐसी बात कहो जिसका तुम्हें ज्ञान न हो।” (कुरआन, 7:32-33)

मनुष्य सांसारिक जीवन में ही मुक्ति का पात्र हो सकता है। इसे जीवन-मुक्ति की संज्ञा दी जा सकती है लेकिन इसका स्पष्ट प्रदर्शन तो परलोक या आखिरत में होगा। हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) ने जीवन-मुक्ति की ओर संकेत करते हुए कहा है—

“क्या मैं तुम्हें न बताऊँ कि कौन है जो नरकाग्नि के लिए हराम (अवैध) है और कौन है जिस पर नरकाग्नि हराम है? प्रत्येक वह (मोमिन) व्यक्ति जो स्वभाव का कोमल, विनीत, करीब रहनेवाला और सरल हो।” (हदीस : तिरमिज़ी)

अर्थात् जिस ईश्वर के आज्ञाकारी व्यक्ति में ये गुण पाए जाएँ, समझ लो कि उसे जीवन-मुक्ति प्राप्त है।

नबी (सल्ल.) से एक मोमिन स्त्री के विषय में कहा गया कि वह बहुत ज्यादा नमाज़ तो नहीं पढ़ती और न बहुत ज्यादा रोज़े रखती है लेकिन वह अपने पड़ोसियों को अपनी ज़बान से कोई तकलीफ़ नहीं पहुँचाती। नबी (सल्ल.) ने कहा : “वह जन्नत में है।”

कर्म यदि अच्छे, शुभ और कल्याणकारी हैं तो वे मनुष्य के लिए कदापि बन्धन नहीं बनते, बल्कि वे तो मनुष्य को स्वतन्त्र और उसे बन्धन-मुक्त करते हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि इस्लाम ने मुक्ति का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह अत्यन्त स्वाभाविक और तर्क-संगत है। वह हृदय के लिए भी सन्तोषप्रद है। उसमें कोई ऐसी बात नहीं पाई जाती है जो आपत्तिजनक हो। इस्लाम ने तो मुक्ति का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वही जीवन का उद्देश्य और आदर्श बन सकता है। हमें प्रसन्नता होती है कि वेद भी इसी के समर्थक हैं।

